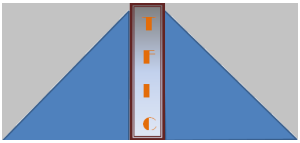

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

वंदे वीरम्

पार्श्वनाथ

लेखक—

जैन-दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पंडित मुनि
श्री चौथमलजी महाराज

प्रकाशिका—

श्रीमती गंगादेवी जैन
फर्म गुलाबसिंह कोकनमल जौहरी
मालीवाड़ा, देहली.

प्रथम संस्करण १०००

सप्रेम उपहार

वीर संवत् २४६५
वि० संवत् १९९५

दोनों का चरित ३६ का-सा अंक है। एक आत्मा के उत्थान का साक्षात् निदर्शन करना है, दूसरा पतन की प्रतिमूर्ति है। पर जैनधर्म ऐसा पतित-पावन है, कि वह कमठ जैसे पापी को भी अंत में देव बना देता है। साथ-साथ चलने वाले दोनों चरित्रों से आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को तुलना की बड़ी अच्छी सामग्री मिलती है। इस चरित की यह असाधारणता बेजोड़ है और इससे इसका स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है।

इस सुन्दर रचना के लिए मुनि श्री वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है भविष्य में उनकी और भी सुन्दर रचनाएँ जनता को पढ़ने का मौका मिलेगा।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल,

न्यायतीर्थ।

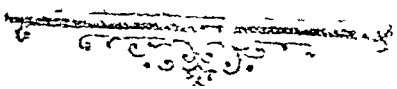

धर्मपरायणा श्रीमती गंगादेवी जैन,
मालीवाड़ा, देहली.

श्रीमती गंगादेवी के सुपुत्र स्वर्गीय लाला
जगन्नाथप्रसादजी जैन जौहरी, नैपाल।

यदि हम उनके पूर्व जन्मों के वर्णन के साथ—साथ वर्तमान जन्म का वर्णन पढ़ेंगे तो यह सोचेंगे कि–वाह ? तीर्थंकर भले ही इस जन्म मे असाधारण और अलौकिक शक्तियो से संपन्न है किन्तु पहले तो हम सरीखे ही थे । हम स्वयं उनकी-सी साधना करके उन शक्तियों के स्वामी वन सकते है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से ससारी जीव भी उनके चरित का अनुकरण कर सकेगा । अतः पूर्व जन्मों का विवरण देने से ही महापुरुषों का जीवन अनुकरणीय हो सकता है ।

पूर्व जन्मों के विवरण का तीसरा प्रयोजन सैद्धान्तिक है । अनेक मतावलम्बियो ने परमात्मा को एक और अनादि स्वीकार किया है। उनके मतके अनुसार साधारण जीवात्मा, परमात्म पद का कदापि अधिकारी नहीं है। उनकी इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए यह वतलाना आवश्यक समझा गया कि जो जीव कुछ भव पहले इतर संसारी प्राणियों के समान साधारण था वही आज शनै. शनै परमात्मा वन गया है। इसी प्रकार हम भी इस पद को प्राप्त कर सकते हैं।

उल्लिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि महापुरुषो का अविकल परिपूर्ण साधना जीवन अंकित करने के लिए उनके पूर्व भवों का वर्णन अवश्य करना चाहिए। अतएव हम भी पहले भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भवो का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराएँगे और अन्त मे उनके तीर्थंकर जीवन को अंकित करने का प्रयास करेंगे ।

पार्श्वनाथ के पूर्व जन्म

पहला जन्म

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत में पोतनपुर नामक एक बड़ा ही सुन्दर नगर था। उसके बाजारों की छटा अनुपम थी। नगर के बाहर रमणीय बाग-बगीचों और सरोवरों के कारण चारों ओर का दृश्य अतिशय मनोहर और मोहक था। वह दर्शकों के चित्त को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था।

उस समय पोतनपुर के राज्य-सिंहासन पर 'अरविन्द' नामक एक प्रजाप्रिय नरेश सुशोभित थे। वे राजनीति के पूर्ण ज्ञाता थे और व्यवहार में भी उस नीति का प्रयोग करते थे। उनके शासन में किसी की क्या मजाल थी कि दूसरे को ऊँगली बता सके। राजा स्वयं धर्मनिष्ठ था और प्रजा भी 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्ति को चरितार्थ करती हुई धर्म परायण थी। महाराज अरविन्द अपनी प्रजा को सन्तान के समान समझ कर यथासंभव सभी उचित उपायों से उसे सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने में सदा उद्यत रहते थे। प्रजा पर कर का असह्य भार न था। साम्राज्योपयोगी व्यय के लिए ही सामान्य कर लिया जाता था। जब राजा की ओर से किसी प्रकार का अनौचित्य न था तो प्रजा भी न्याय-संगत राज्य-कर को अपने आवश्यक व्यय में सम्मिलित समझती और प्रमाणिकता के साथ समय पर उसे चुका देती थी। राजा भी इतना प्रजापालक और न्याय परायण था कि प्रजा द्वारा प्राप्त उस कर के द्रव्य को अपने व्यक्तिगत भोगोपभोग के साधनों में खर्च न करता हुआ प्रजा की समृद्धि

के लिए ही व्यय करता था। शिक्षा, स्वास्थ्य, और सुरक्षा आदि प्रजोपयोगी कार्य उस कर से किये जाते थे। इस प्रकार उस समय राजा और प्रजा में बड़ा ही मधुर संबंध था। राजा, प्रजा के पोषण के लिए है शोषण के लिए नहीं, यह सिद्धान्त उस समय आम तौर पर व्यवहार में लाया जाता था।

महाराज अरविन्द के एक ही पत्नी थी। उसका नाम था धारिणी। महारानी धारिणी स्त्रियों के समस्त गुणों से सुशोभित थी। धर्मशीला, दयालु और उदार हृदया थी। दोनों एक दूसरे के सखा, सहायक और साथी थे।

महाराज अरविन्द के राज्य में विश्वभूति नामक एक मुख्य राज पुरोहित रहता था। वह जैन धर्म का निश्चल श्रद्धानी श्रावक था। उसने श्रावक के बारह व्रतों को धारण किया था और सावधानी से यथाविधि उनका पालन करता था। वह शास्त्रवेत्ता था और अध्यात्मवेत्ता भी था। वह अपने धर्म पर सदा निश्चल रहता था। आजीविका के उच्छेद का भय या और किसी प्रकार का भय उसे छू भी न गया था। यहां तक कि राज-भय भी उसे अपने स्वतंत्र विचारों से वंचित न कर सकता था। उसके धर्म और अपने संकल्प से च्युत करने की क्षमता किसी में न थी। वास्तव में पुरोहित दृढ़ धर्मी और प्रियधर्मी था। वह वर्तमान कालीन श्रावकों की भांति अनिश्चल, डरपोक या कातर न था, कि किसी के भय, लालच या रौब में आकर धर्म-कर्म को तिलाञ्जली दे बैठे। आज तो यह स्थिति है कि प्रथम तो धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव ही नहीं होता और यदि होता भी है तो इतना उथला कि जरा-सा संकट आते ही काफूर हो जाता है। [illegible] से स्वार्थ के लिए आज के श्रावक प्राय अपने विधर्मी

स्वामी-मालिक का इशारा पाते ही धर्म का परित्याग कर विधर्मी बन जाते हैं। सदैव अतृप्त रहने वाले उदर की पूर्ति करने के प्रयत्न में धर्म का नाश करने वालों की संख्या आजकल कम नहीं है। उन्हें इतना भी विचार नहीं आता कि जीवन की रक्षा धर्मकी आराधना करने के लिए की जाती है। जो जीवन धर्महीन है उसकी रक्षा करने से लाभ ही क्या है? जीवन तो मिलता ही रहता है, और प्रत्येक जीवन के साथ पेट भी प्राप्त होजाता है पर धर्म इतना सस्ता नहीं है। वह तो प्रकृष्ट पुण्य के योग से ही प्राप्त होता है। जीवन, तन-धन आदि धर्म के लिए न्योछावर किये जा सकते हैं। इस प्रकार विचार न करके मोही जीव इस पेट के लिए अपना अमूल्य रत्न-धर्म बेच डालते हैं। अनेक शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों द्वारा यह शर्त लगायी जाती है कि यदि तुम अपने धर्म का परित्याग कर हमारे धर्म को अंगीकार करो तो तुम्हारी शिक्षा की यहां व्यवस्था हो सकती है। विद्यार्थी बेचारे अनन्यगति होकर ऐसी शर्त स्वीकार करलेते हैं। परन्तु यह भी एक गंभीर भूल है। जिस विद्या के लिए धर्म का परित्याग करना पड़ता है वह कभी उपादेय नहीं है। कुज्ञान, अज्ञान से भी अधिक भयंकर होता है। ज्ञान का अभ्यास आत्मिक विकास के लिए करना चाहिए और आत्मिक-विकास धर्म की आराधना के द्वारा ही सभव है।

महिला-वर्ग की तो आजकल दशा ही निराली है। अनेक सम्भ्रान्त कुलों की महिलाएँ भी पुत्र प्राप्ति के हेतु अथवा पति को अपने आधीन बनाने के लिए न जाने कितनी विडम्बनाएँ करती हैं। वे भैरों, भवानी, भोपा, बाजिया, पीर-फकीर, बाबा, जोगी, सन्यासी, और न जाने किन-किन के पास भटकती

फिरती है और उनके चंगुल मे फंसकर अपने दर्शन और चारित्र रूप धर्म को मिट्टी मे मिलाती है। उन्हे सोचना चाहिए कि इस समस्त विश्व मे धर्म ही सर्वश्रेष्ठ और अनमोल वस्तु है। धर्म ही इस लोक और परलोक में मनवांछित सुख देने वाला है। धर्म के विना सच्चे सुख की प्राप्ति होना असंभव है। ऐसी अवस्था में तुच्छ उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म जैसे महामहिम पदार्थ का परित्याग कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त भैरू भवानी आदि की विडम्बनाएं निरा धोखा ही है। भोली महिलाओ का द्रव्यधन और भाव धन लूटने का साधन है।

तात्पर्य यह है कि पुरोहित विश्वभूति किसी भी सांसारिक कामना के वशीभूत होकर अपने धर्म से च्युत नहीं होता था। धर्म के विषय मे वह किसी के प्रभाव से परिभूत न होता था। विश्वभूति की पत्नि अनुधरा भी उसी के अनुरूप स्त्री थी। वह अपने पति से भी दो कदम आगे रहती थी। इसी अनुधरा की कुक्षि से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके क्रमशः कमठ और मरुभूति नाम रखे गये। ये दोनों भाई जब कुछ बड़े हुए तो दोनो को नाना विद्याएँ और कलाएं सिखलाई गई। यद्यपि दोनो की शिक्षा समान रूप से संपन्न हुई पर दोनों के संस्कार समान नही थे। दोनो मे प्रकाश और अंधकार के समान अन्तर था। मरुभूति सद्गुणो का आगार था तो कमठ शठ और दुर्गुणों का भंडार था। मरुभूति अपने बाल्यकाल मे ही अपने सद्गुणो के मनोहर सौरभ से सब को आल्हादित करता था और कमठ अपने दुर्गुणों की दुर्गन्ध इतस्तत. फैलाकर सबको दुःखी बनाता था।

पुरोहित विश्वभूति के जीवन की सध्या प्रारंभ हो चुकी थी।

वे दिनोंदिन क्षीणशक्ति हो रहे थे। अतएव प्राचीन परिपाटी के अनुसार उन्होंने गृहस्थी का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने सिर से उतार कर अपने पुत्रों के सिर रक्खा और आप सब झंझटों से अलहदा होकर निश्चिन्त चित्त से धर्म का आराधन करने लगे। वास्तव मे पुत्रों की यही सार्थकता है कि गृहस्थी उन्हे सौप कर कम से कम जीवन के अन्त समय में विशेष रूप से धर्म की आराधना करने का अवसर मिल जाता है। पुरोहित विश्वभूति थोड़े समय बाद अनशन व्रत धारण कर के इस लोक से विदा हुए और अपने उपार्जित पुण्य के फल-स्वरूप प्रथम देवलोक मे देव हुए। उनकी पत्नी अनुधरा भी उसी स्वर्ग में उत्पन्न होकर पुनः देवी के रूप मे उनकी पत्नी हुई। इधर कमठ अपने दुष्ट स्वभाव के साथ गृहस्थी का कार्य संचालन करने लगा और परम्परागत पुरोहिताई भी करने लगा।

उस समय श्रीहरिश्चन्द्राचार्य, जो अनेक रमणीय गुणों के धारक थे, अनेक ग्राम-नगर-आकर आदि मे जैनधर्म का उपदेश करते हुए भव्य जीवों के पुण्य-परिपाक से पोतनपुर नगर मे पधारे। मुनिराज चार ज्ञान के धारी और धर्मप्रियजन रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान थे। आपके आगमन का शुभ संवाद ज्यों ही नगर मे पहुंचा कि नगर निवासी नर-नारियों के समूह के समूह उनके कल्याणकर दर्शन और उपदेश श्रवण के लिए उमड़ पड़े। राजा भी अपने प्रतिष्ठित और उच्च पदाधिकारियों के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। विश्वभूति के दोनों पुत्र कमठ और मरुभूति भी माता-पिता के वियोग की वह्नि को मुनिराज की प्रशान्त पीयूषमयी वाणी के द्वारा शांत करने के लिए आये। क्योंकि मनुष्य के मन की वृत्ति बाह्य

कारणों के अनुसार परिवर्त्तित होती रहती है। प्रियजनों के वियोग की व्यथा का उपचार धर्म-श्रवण, संसार की अनित्यता, अशरणता और आत्मा के एकत्व की भावना आदि से ही हो सकता है। जो घटना घट चुकी है उसके लिए खेद करके अशुभ कर्मों का नवीन बंध करना विवेकशीलता नहीं है। अतएव धर्म की विशिष्ट आराधना करके और संसार के स्वरूप का चिन्तन करके आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार कमठ, मरुभूति तथा अन्य पौर जनों के उपस्थित होने पर मुनिराज ने अपने मुख-चन्द्रमा से उपदेश-सुधा का प्रवाह बहाया। सब श्रोता एकाग्र मन से, चुपचाप, उत्कंठा पूर्वक उपदेश सुनने लगे। मुनिराज कहने लगे—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—निर्ग्रन्थ प्रवचन

अहिंसा, संयम और तप उत्कृष्ट मंगल है। उत्कृष्ट मंगल वह है जिसमें अमंगल का अणुमात्र भी अंश विद्यमान न हो और जिस मंगल के पश्चात् अमंगल का कदापि उद्भव न हो सके। संसार में अनेक पदार्थ मंगल-रूप माने जाते हैं किन्तु उनका विश्लेषण करके देखा जाय तो उनके भीतर अमंगल की भीषण मूर्ति बैठी हुई प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त वह सांसारिक मंगलमय पदार्थ अल्प काल तक किंचित् सुख देकर बहुत काल तक बहुत दुःख देने के कारण पारणाम में अमंगल रूप ही सिद्ध होते हैं। मधुर भोजन, इच्छित भोगोपभोग, आज्ञापालक पुत्र, अनुकूल पत्नी, निष्कंटक साम्राज्य और सब प्रकार की इष्ट सुख-

सामग्री अन्त में एक प्रकार की वेदना देकर, स्थायी वियोग से व्यथित करके विलीन हो जाती है। अतः जो जीव शुद्ध और स्थायी मंगल चाहते हैं उन्हें अहिंसा, संयम और तप की आराधना करनी चाहिए। इस मंगलमय धर्म की शक्ति असीम है। जो अपने हृदय मे इसे धारण करता है, उसके चरणों में सामान्य जनता की तो बात ही क्या, देवता भी नतमस्तक होते हैं। धर्म ही संसार सागर से सकुशल पार उतरने के लिए जलयान है। अनादि काल से आत्मा मे जो अशुद्धि मल चिमटा हुआ है उसे धर्म द्वारा ही दूर किया जा सकता है। जीवन में धर्म ही सार तत्त्व है, और इसकी आराधना करने से ही मनुष्य सच्चे मनुष्यत्व का अधिकारी होता है। धर्म दो प्रकार का है—सर्व विरति और देश विरति। हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह रूप पापों का पूर्ण रूप से परित्याग करना सर्व विरति है। सर्व विरति महात्मा मर्यादित श्वेत वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणों के अतिरिक्त, जो संयम मे सहायक होते है, अपने पास और कुछ भी नहीं रखते। वे मुँह पर मुखवस्त्रिका बांधते है, बचा-खुचा, रूखा-सूखा भोजन करके संयम-पालन के निमित्त शरीर की रक्षा करते है, और सांसारिक बातो से जरा भी सरोकार नहीं रखते। इस प्रकार के धर्म को धारण करने वाले महात्मा मुनि कहलाते हैं। श्रावक धर्म बारह व्रत रूप है। जो मुनि धर्म को स्वीकार करने का सामर्थ्य रखते है, उन्हें उसे धारण कर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना चाहिए। किन्तु जिनमे इतनी क्षमता नहीं है, उन्हे गृहस्थ धर्म को तो धारण करना ही चाहिए। तभी आत्मा का उद्धार होगा। यही धर्म मोक्ष रूपी नगर मे जाने का राजमार्ग है। यद्यपि दोनों धर्मों मे विकलता और सकलता

का अन्तर है। फिर भी शनैः शनैः देशविरत श्रावक सर्व विरत बन जाता है। इस प्रकार धर्म ही समस्त सुखों का दाता है।"

मुनिराज ने ललिताङ्गकुमार का उदाहरण दिया। बोले :—

ललितांगकुमार 'श्रीवास' नगरी के नरनाथ नरवाहन के ज्येष्ठ पुत्र थे। वे जैसे शूरवीर, राजनीतिज्ञ और धर्मनिष्ठ थे वैसे ही उदारहृदय और परोपकारी थे। ललितांगकुमारका एक मित्र था-सज्जन। नाम से वह सज्जन था पर प्रकृति से अत्यन्त दुर्जन था। वह ललितांग को अपने सद्गुणों से विचलित करने का सदैव प्रयत्न किया करता था। वह समझाता—'कुमार, देखो यह दान वीरता कभी सत्यानाश कर देगी। भले का नतीजा हमेशा बुरा ही होता है।' कुमार उसका प्रतिवाद करता—वह कहता—कदापि नहीं। भले का नतीजा भला ही होता है।

इस प्रकार दोनों का विवाद चलता रहता था। एक बार कुछ दीन-दुखी कुमार के निकट आये। उसे अपनी दुर्गति का हाल सुनाया। कुमार का करुणापूर्ण हृदय दयार्द्र हो गया। उसने बहु-मूल्य हीरे की अंगूठी उतार कर उन्हें दे दी। सज्जन को अच्छा अवसर हाथ आया। उसने जाकर राजा से कह दिया। राजा अप्रसन्न हुआ, कुमार को डाटा-फटकारा और भविष्य में ऐसा न करने को [illegible]। कुमार पितृभक्त था। उसने पिताकी आज्ञा

कुमार की दानवीरता की चहुँ ओर प्रसिद्धि
र फिर मुसीबत में पड़े हुए कुछ लोग कुमार
कुमार ने उन्हें कुछ सहायता तो दी पर उन्हें
चाहा न मिला। वे लोग फिर अपनी दीनता
से याचना करने लगे। कुमार का मृदुल हृदय
। प्राकृतिक दानवीरता जाग उठी। उसने [illegible]

मे पहना हुआ हार उतार कर उन्हें दे दिया। सज्जन की फिर वन आई। वह फिर राजा के पास दौड़ा गया। राजा ने अव की वार कुमार को देश निकाले का दंड दे दिया। प्रणवीर पुरुप घोर व्यथा उपस्थित होने पर भी अपने पथ से नही चिगते। ललितांग मन को मैला किये विना ही राजा की आज्ञा के अनुसार निकल पड़ा। सज्जन भी साथ हो लिया। दोनों सुनसान वन मे पहुँचे। वहाँ सज्जन वोला—कुमार, हठ छोड़ो। मेरा कहना मानो—भले का परिणाम वुरा ही होता है। पर कुमार यह भ्रान्त सिद्धान्त मानने को राजी न हुआ। अन्त मे सज्जन ने कहा—'अच्छा चलो, किसी से निर्णय करालें। मै जीत गया तो तुम्हारा अश्व, आभूषण और वस्त्र मै लेलूँगा।' कुमार ललितांग ने यह स्वीकार कर लिया। आगे वढ़े तो कुछ ग्रामीण मिले। उन से पूछा गया—वताओ भाई, भले का फल भला होता है या वुरा? सव एक स्वर से 'वुरा' 'वुरा' चिल्लाने लगे। कुमार ने पूछा—कैसे? वे वोले—यहाँ हमारे राजा आये थे। हमने अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके उनका स्वागत किया। इससे संभवतः उन्होंने समझा—ये लोग मालदार है। जाते समय हमारे ऊपर कर का और अधिक वोझा लाद गये। अतः यह स्पष्ट है कि भले का फल वुरा होता है।

कुमार हार गया। उसने अपना अश्व आदि सज्जन को सौप दिये। दुर्जन 'सज्जन' अव घोड़े पर सवार होकर ताने कसने लगा। पर कुमार अपने सिद्धान्त पर अव भी अचल था। सज्जन ने दूसरी वार निर्णय कराने की चुनौती दी। और अव की वार हारने वाले की आंखे निकालने की शर्त लगाई गई। कुमार ने यह भी स्वीकार किया। पर जव निर्णय दोवारा कुमार के विरुद्ध

दिया गया तो उसने सहर्ष अपनी आंखें निकाल कर सज्जन को दे दी। क्रूर हृदय सज्जन कुमार को नेत्रविहीन कर चलता बना। कुमार को जंगल मे बैठे-बैठे शाम हो गई। पुण्य जिसका सहायक होता है उसका कहीं अनिष्ट नहीं हो सकता। शाम होने पर हँसों का एक झुंड वहाँ वट-वृक्ष पर वास करने आया। उनमे से एक हँस ने कहा—देखो जी, हम लोग चुगते तो मोती हैं। पर बदले मे कुछ भी नहीं देते। दूसरे ने कहा—वाह! देते क्यों नहीं? इस वट वृक्ष पर जो लता लगी है, इसके पत्तों का रस कोई हमारी बीट मे मिलाकर लगाए तो नेत्र-हीन भी सनेत्र हो जाता है। जन्मांध भी इससे दिव्य ज्योति प्राप्त करता है।

कुमार यह संवाद सुन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उल्लिखित उपचार कर पुनः दिव्य ज्योति प्राप्त की और आगे चल दिया। चलते-चलते वह चम्पानगरी मे पहुँचा। चम्पा के राजा जितशत्रु की कन्या नेत्रहीन थी। राजा ने वर की बहुत तलाश की, पर कोई अंधी राजकुमारी से विवाह करने को तैयार न हुआ। राजपरिवार इस घोर चिन्ता के मारे प्रातःकाल होते ही जीवित जल मरने को तैयार हो रहा था। सारी नगरी में कुहराम मचा हुआ था। ऐसे समय ललितांगकुमार चम्पा में पहुँचा। पुण्यवान् पुरुष जहा जाते हैं, अपने पुण्यके प्रताप से वहीं शान्ति का प्रसार करते हैं। कुमार ने राजकुमारी की चिकित्सा की। उसे दृष्टि प्राप्त हो गई। राजा ने प्रसन्न होकर कन्या का पाणिग्रहण भी कुमार के साथ कर दिया और आधा राज्य भी दे दिया। अब राजकुमारी के साथ ललितांगकुमार आनंद पूर्वक रहने लगे।

उधर सज्जन की करतूतें फलने-फूलने लगीं। वह दरिद्र हो गया। भीख मांग कर किसी प्रकार अपना निर्वाह करता था।

एक दिन भीख माँगने के लिए वह चम्पा में जा पहुँचा। कुमार ने सज्जन को तुरंत पहचान लिया। कुमार भले का फल भला ही मानता था अतः सज्जन के क्रूरता पूर्ण व्यवहार को भुलाकर भी उसने उसे आश्रय दिया। पर सज्जन ने अपनी दुष्टता न छोड़ी। एक दिन चुपके से वह राजा जितशत्रु के पास जा पहुँचा और उससे बोला—'आपके जामाता ललितांग मुझ से अत्यन्त स्नेह इस लिए करते हैं कि कहीं उनके पाप की पोल न खुल जाय। असली राजकुमार तो मै हूं। वह मेरा चरवादार है।' राजा ने यह सुना तो उसका रोम रोम क्रोध के मारे जलने लगा। सज्जन जब चला गया तो उसने जल्लादों को बुलाया। उन्हें समझाया—'आज रात को ठीक ग्यारह बजे जब मै कुमार ललितांग को अपने पास बुलाऊँ तो अमुक स्थान पर उसका सिर धड़ से जुदा कर देना। खबरदार इसका भेद किसी पर प्रकट न होने पावे।

रात को नियत समय पर एक राजकीय पुरुष ललितांग के पास आया और कहने लगा—'कुमार, अभी इसी समय आपको महाराज ने याद किया है। कृपा कर मेरे ही साथ पधारिये।' कुमार कुछ दुविधा मे पड़ गये। इस समय ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है। अन्त में उसने सज्जन से कहा—'भाई, जरा तुम्ही महाराज से मिल आओ। देखो क्यों उन्होंने मुझे याद किया है? सज्जन उस पुरुष के साथ हो लिया। किन्तु राजाज्ञा के अनुसार बीच ही में जल्लादों ने उसे ललितांगकुमार समझ कर कत्ल कर दिया। सच है, पाप बहुत दिनों तक नहीं छिपता—वह तो शीघ्र ही अपना फल देकर प्रकट हो जाता है।

प्रातःकाल हुआ। राजा ने ललितांग को सकुशल देखा और उसे यह भी मालम हो गया कि मेरे षड्यंत्र का रहस्य प्रजा पर

प्रगट हो चुका है तो उसका क्रोध और तेजी से भड़क उठा। उसने कुमार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कुमार भी सच्चा क्षत्रिय था और युद्ध विद्या मे पूर्ण निपुण था। वह शूर-वीरों की तरह सामना करने को कटिबद्ध हो गया। वह बस्ती के बाहर गया और व्यूह-रचना कर डाली। राजा जितशत्रु को युद्ध के लिये सन्नद्ध देख उनके मंत्री ने पूछा, देव, आज किस पर भ्रकुटि चढ़ाई है? राजा बोला—न पूछो मंत्री जी, अनर्थ हो गया कुमार चरवाहा है। उसने धोखा देकर राजकन्या ग्रहण करली है।

मंत्री प्रवीण था। उसने महाराज को वास्तविकता की खोज करने की प्रार्थना की और तब तक युद्ध की तैयारी रोकदी। अंत मे सत्य सामने आया। कुमार के वास्तव मे क्षत्रिय राजकुमार होने का प्रबल प्रमाण मिलने पर राजा लजाया, अपनी करनी के लिए पछताया और कुमार ललितांग से क्षमायाचना ही नहीं की वरन् उसे पूरे राज्य का अधिपति बना दिया। उधर ललितांग के पिता महाराज नरवाहन को पता चला तो वह भी अपने प्रिय पुत्र से मिलने चल दिया। अन्त मे नरवाहन और जितशत्रु दोनों ने संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण की और ललितांग दोनों राज्यों का स्वतंत्र स्वामी बना। यह है धर्म का प्रभाव! घोर व्यथाएँ सहन करके भी ललितांग कुमार ने अपने धर्म की रक्षा की—धर्म के लिए राजपाट यहाँ तक कि नेत्रों का भी परित्याग किया तो धर्म ने भी उसकी रक्षा की और पुण्य के प्रताप से उसे राजसी ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई।

मुनिराज का यह उपदेश सुनकर श्रोतागण अत्यन्त हर्षित हुए और महात्मा मन्भूति के आनन्द का तो पार ही न रहा। जैसे

कोई क्षुधातुर प्राणी सुस्वादु भोजन सामने आने पर एकदम ग्रहण करने की इच्छा करता है उसी प्रकार मरुभूति की भी धर्म को ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा हुई। अलबत्ता श्रोताओं में एक प्राणी ऐसा था जिसके हृदय पर मुनिराज हरिश्चन्द्र के प्रभावशाली सदुपदेश का भी प्रभाव न पड़ा। तपे हुए तवे पर जैसे शीतल जल छिड़कने से वह तत्काल ही विलीन हो जाता है अथवा जैसे मंग सूलिया चिकना पाषाण मूसलधार वर्षा होने पर भी नहीं भींगता है उसी प्रकार उसके हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह प्राणी कौन था वह था कठोर-हृदय कमठ।

सच है प्रथम तो वीतराग भगवान् के श्रेयस्कर वचनों के श्रवण करने का सौभाग्य मिलना ही कठिन है, यदि कदाचित् श्रवण करने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उन पर प्रतीति होना और भी मुश्किल है। पूर्व जन्म में जिन्होंने प्रबल पुण्य का उपार्जन किया है वही नर-रत्न श्रद्धा रूपी चिन्तामणि प्राप्त कर सकते हैं। अतएव प्रत्येक आत्म कल्याण के इच्छुक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अत्यन्त अनुराग के साथ वीतराग-वाणी का श्रवण करे और उस पर पूर्ण श्रद्धा रख कर तदनुसार आचरण करने का यथा शक्ति प्रयास करे। मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट सफलता का यही चिह्न है।

मुनिराज का उपदेश कमठ पर तनिक भी प्रभाव न डाल सका, यह उपदेश का नहीं किन्तु कमठ की अन्तरात्मा की प्रगाढ़ मलिनता का दोष था। किसी कवि ने ठीक कहा है—

मधुना सिंञ्चितो निम्बः, निम्बः किं मधुरायते।
जाति स्वभाव दोषोऽयं, कटुकत्वं न मुञ्चति॥

अर्थात् नीम को चाहे जितने मधु से सींचा जाय पर नीम क्या कभी मधुर हो सकता है; वह अपनी कटुता का त्याग नहीं करता यह दोष उसके जातीय स्वभाव का है—मधु का नहीं।

सौ मन साबुन से भी यदि कोयले धोए जाएँ तो भी वे उज्ज्वल नहीं हो सकते। पलाण्डु को भले ही कस्तूरी का खाद दीजिए वह अपनी दुर्गन्ध नहीं छोड़ने का। कमठ का आत्मा मिथ्यात्व की प्रगाढ़ता के कारण अतिशय मलीमस था। अतएव मुनिराज के सदुपदेश का उसके हृदय-प्रदेश मे लेश मात्र भी प्रवेश न हो सका। किन्तु मरुभूति का आत्मा पूर्व पुण्य के उदय से सरल और सत्याभिमुख था। उसने देशविरति को अंगीकार किया। वह प्रतिदिन सामायिक, सवर, पौषध, दया और व्रत प्रत्याख्यान आदि सदनुष्ठानों मे तल्लीन रहने लगा। वह ज्यों ज्यों आत्मा की ओर अभिमुख होता गया त्यों-त्यों सासारिक व्यवहारों तथा भोगोपभोगो मे उसका मोह घटने लगा। यह दशा देख मरुभूति की पत्नि बड़ी अप्रसन्न हुई। क्योंकि वह उसकी ओर से उदास सा होगया था और इसलिए उसके स्वार्थ मे बाधा पड़ रही थी। धीरे-धीरे वह अपने जेठ कमठ के प्रेम पाश मे फँस गई।

विषयान्ध प्राणी का मस्तिष्क और हृदय पाप की कालिमा के कारण इतना निर्बल और विवेकशून्य हो जाता है कि वह हिताहित कार्य-अकार्य और बुरा-भला नहीं सोच सकता। जैसे मैले काच पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार विषयी पुरुष के कलुषित चित्त मे कर्तव्य, सदाचार, नीति और धर्म की उज्ज्वल भावनाएँ भी उत्पन्न नहीं होती। वह विवेक से भ्रष्ट होकर अधिकाधिक पतन की ओर अग्रसर होता चला जाता है। "विवेकभ्रष्टानां भवति विनियात. शतमुख." । जो जीवन की

पवित्रता एवं उज्ज्वलता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं उन्हें नीति और धर्म की मर्यादा से तिल भर भी आगे न बढ़ना चाहिये। क्योंकि सीमा का उल्लंघन होते ही अधःपतन का गहरा गड्ढा मिलता है और जो उसमें गिरा उसका उद्धार बड़ी कठिनाई से होता है। कमठ और मरुभूति की पत्नि का आत्मा विवेकभ्रष्ट हो गया। उन्हें अकर्त्तव्य-कर्त्तव्य का भान न रहा। कमठ ने यह न सोचा कि मरुभूति मेरा लघुभ्राता है उसकी पत्नि मेरी पुत्री के समान है। मरुभूति की पत्नि ने भी कमठ को पितृतुल्य न समझा और दोनो पापात्मा भयंकर दुष्कृत्य करने लगे। किन्तु पाप छिपाये छिपता नही है। जब दोनों निर्लज्जता पूर्वक अनेक काम चेष्टाएँ करने लगे तो कमठ की पत्निको यह भेद मालूम हो गया। उसके हृदय में ईर्षा की भीषण ज्वाला धधक ऊठी। उसने अपने देवर मरुभूति के समक्ष सारा रहस्य खोल दिया। किन्तु सरल स्वभाव मरुभूति ऐसे घोर पाप की आशंका भी न कर सकता था। वह बोला:—भावज, प्रतीत होता है तुम्हें भ्रम हो गया है। मेरे बड़े भाई कमठ इस प्रकार का दुराचार नही कर सकते। मै तुम्हारी बात पर विश्वास नही कर सकता।'

भावज बोली—'देवरजी, 'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' यह कथन बिलकुल सही है। मै जो कह रही हू उसमें असत्य का लेश भी नही है। आप मुझ पर विश्वास न करे, न सही, जांच तो कर देखिए।'

मरुभूति शायद सॉसारिक प्रपञ्चों को जान लेना चाहता था। उसने इस घटना की परीक्षा करने की ठानी। वह जंगल मे जा, योगी का वेष बना कर अपने घर जहां कमठ रहता था, आया। कमठ ने इसे कोई योगी समझ ठहरा लिया। उस रोज़

कमठ मरुभूति को घर पर न पाकर और अधिक निर्भय होगया था। उसने आगत योगी की परवा न कर भाई की पत्नी के साथ प्रेमक्रीड़ा करना आरंभ कर दिया। योगी एक अनजान व्यक्ति की भांति एकान्त मे बैठा हुआ सब कुछ देखभाल रहा था। उसने जो कुछ देखा उससे अपनी भौजाई का कथन सर्वथा सत्य पाया। वह इस पापलीला को देखकर सिहर उठा। वह वहां से जंगल की ओर मुड़ा और योगी का वेश बदल कर अपने असली वेश मे घर लौट आया। वह मन मसोस कर अत्यन्त उदासीनता पूर्वक रहने लगा। अब उसकी आखों के आगे रह रह कर अपने भाई और अपनी पत्नी के इस भ्रष्टाचार का नग्न चित्र नाच रहा था। वह अधिक दिनों तक इस पाप-लीला को न देख सका। उसने एक दिन अपने बड़े भाई के पाप का भंडा फोड़ राजा के सामने कर दिया।

मनुष्य के सामने अनेकों बार बड़ी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक ओर मोह-ममता और दूसरी ओर कर्त्तव्य-प्रेरणा होती है। कभी मोह अपनी ओर मनुष्य को आकृष्ट कर के कर्त्तव्य की ओर से विमुख बनाना चाहता है और कभी बलवती कर्त्तव्य-प्रेरणा जागृत होकर ममता को पछाड़ देना चाहती है। मनुष्य ऐसे प्रसंगों पर बड़ी दुविधा मे पड़ जाता है। जो निर्बल होते हैं वे मोह के आधीन हो जाते हैं। जो सबल हृदय के होते हैं वे मोह-ममता को लात मार कर कर्त्तव्य की पुकार सुनते हैं। कर्त्तव्य के आगे वे अपना और अपने आत्मीय जनों के क्षणिक स्वार्थ का उत्सर्ग करने मे जरा भी कुंठित नहीं होते। धर्म एवं नीति को अपने क्षणिक स्वार्थों से बढ़कर मानने वाले महापुरुष व्यक्ति इस पथ के सिवा और कौन-सा पथ चुन

सकते है। मरुभूति के सामने भी यही दुविधा उपस्थित थी। एक ओर अपनी प्रतिष्ठा का खयाल था, अपने भाई और अपनी भार्या के अपमान का प्रश्न था और दूसरी ओर नीति और धर्म की प्रतिष्ठा थी। वह यदि अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करता है तो नीति-धर्म की प्रतिष्ठा भंग होती है और यदि नीति-धर्म की प्रतिष्ठा की रक्षा करता है तो अपनी प्रतिष्ठा भंग होती है, साथ ही आत्मीय जनों को भी हानि पहुँचती है। इस विरोधी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिए? उसने विचार किया और नीति-धर्म की प्रतिष्ठा को सर्वोच्च समझ कर उसकी रक्षा करने का निश्चय किया। उसने सोचा—'आज यदि मै चुपचाप इस भ्रष्टाचार को सहन कर लूंगा तो यह धीरे-धीरे अधिक फैलेगा और इसके विषैले कीटाणु सारे समाज को क्षत-विक्षत करके नष्ट भ्रष्ट कर डालेगे। इस प्रकार अनीति और अधर्म का प्रसार होगा तथा धर्म और नीति की प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी। अतएव मेरा कर्त्तव्य है कि मै अपनी प्रतिष्ठा को धक्का लगा कर भी, अपने भाई और भार्या को संकट मे डाल कर भी धर्म-नीति की रक्षा करूँ। यदि देखा जाय तो इस रहस्य के उद्घाटन से मेरी वास्तविक प्रतिष्ठा का विनाश भी नहीं होता है और आत्मीय जनों को भी सुशिक्षा मिलने के कारण उनका सुधार ही होगा।'

कितने उदार विचार! कैसा उच्च आशय है! धर्म और नीति के प्रति प्रगाढ़ अनुराग रखने वाले महापुरुष ही इस प्रकार का सत्साहस करते हैं और कोप के प्रसंग पर भी पापी जनों पर करुणा के शीतल कणो की वर्षा करते है।

राजा इस पापाचार की कहानी सुन कर चकित रह गया। उसने अपने कर्मचारियो को आदेश दिया और उन्होंने जा कर

कमठ को पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित किया। उसके मुँह पर कालिख पुतवाई गई। फिर गधे पर चढ़ा कर नगर के प्रधान २ बाजार में घुमा कर देश से उसे निर्वासित कर दिया। जिसने इस घटना को देखा उसी के कान खड़े हो गये और कहने लगे—देखो, परस्त्री सेवी की ऐसी दुर्गति होती है।

कमठ अपने घोर अपमान से आग बबूला होगया। वह अपने पाप कर्म पर रुष्ट न हो कर मरुभूति पर दांत पीसने लगा। उसने सोचा दुष्ट, तू ने ही मेरी यह दुर्दशा कराई है। अवसर मिलने पर इस तिरस्कार का प्रतिशोध तेरे प्राण लेकर करूँगा।' कमठ इस प्रकार विचार करता हुआ बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा। अन्त मे कोई ठौर ठिकाना न देख उसने शिव नामक एक तापस के पास तापसी दीक्षा धारण कर ली और दिन-रात धूनी धधका कर अज्ञान-तप करता हुआ अपने दिन व्यतीत करने लगा। इधर कमठ बाहर धूनी धधकाए रहता था, उधर उसके अन्तःकरण मे भी क्रोध की धूनी धधक रही थी।

वस्तुतः क्रोध अंधा होता है। क्रोध जब भड़कता है तो वह क्रोधी को विवेकशून्य बनाकर उसे पतन की ओर ले चलता है। क्रोध अनेक अनर्थों का मूल है। क्रोध के वश मे पड़ा हुआ प्राणी क्या-क्या अनर्थ नही कर डालता? क्रोध की ही बदौलत कोई कूप मे गिर कर आत्महत्या करते है, कोई विष भक्षण कर अपने प्राणों का अन्त कर डालते है। कोई आत्मीय जनो का या दूसरों के जीवन का अपहरण करते और दुर्गति के पात्र बनते है। क्रोधी मनुष्य चाण्डाल से भी निकृष्ट बन जाता है। —डाल रसोई मे प्रवेश कर जाय तो उस समय का भोजन अ-

पवित्र समझा जाता है पर क्रोध-चाण्डाल जब हृदय रूपी आगार में प्रवेश करता है तो कई जन्मों को अपवित्र कर डालता है।

एक बार एक पंडित जी स्नान-संध्या से निवृत्त होकर नगर के एक तंग रास्ते से जा रहे थे। ठीक उसी समय एक महतरानी सामने से आ रही थी। पंडित जी उस पर दृष्टि पड़ते ही बिगड़े और गालियों की बौछार करने लगे। महतरानी धीरे धीरे पीछे हटती हुई बाज़ार में आ गई। उधर पंडितजी के क्रोध का पारा सातवें आसमान पर जा पहुंचा। उनकी बकझक सुन कर भीड़ इकट्ठी हो गई। महतरानी ने पंडित जी का पल्ला पकड़ कर कहा, 'चलिए, अपने घर चलें। आप मेरे पति और मै आपकी पत्नी हूँ।' लोगों ने यह सुना तो स्तम्भित रह गये। परस्पर कानाफूसी और इशारेबाज़ी होने लगी। किसी ने कहा—'देखो, आज यह पोल खुली है। कुछ न कुछ दाल में काला अवश्य है। महतरानी निष्कारण तो यों नहीं कह सकती।' अब पंडितजी का दिमाग ठिकाने आया। वे कुछ शान्त होकर बोले—'अरी तू यह क्या तमाशा कर रही है? मै कब तेरा पति बना हूं? तू पागल तो नही हो गई है? क्यो मेरी इज्जत धूल मे मिला रही है? क्यों यह कलंक मेरे माथे थोप रही है? भला, ये सुनने वाले लोग अपने मन मे क्या समझेंगे? पण्डितजी का यह कहना था कि महतरानी उनका पल्ला छोड़ कर अपना रास्ता नापने लगी। पंडितजी फिर बोले—'महतरानी बाई, आखिर अब यकायक क्यों चलदी? अपनी बातों का मर्म तो समझाए जा! तूने क्यों मेरा पल्ला पकड़ कर मुझे अपना पति बनाया और अब चुपचाप क्यों खिसकी जाती है?' महतरानी ने कहा—पंडितजी महाराज, जब आप क्रोध के वश मे हो गये थे, उसके

प्रभाव से अंटसंट वक रहें थे तव आपका पल्ला मैंने इसलिए पकड़ा था कि क्रोध-चांडाल मेरा पति है। मै चांडालिन हूँ। अपने पति-चांडाल को आपके हृदय में वैठा देख आपका पल्ला पकड़ा। लेकिन जव मैने देखा कि चाडाल आपके हृदय मे से निकल भागा है तव उसी दम आपका पल्ला छोड़ दिया है।

तात्पर्य यह है कि क्रोध के वश मे हुआ मनुष्य चांडाल से भी वदतर हो जाता है। कमठ ने तापसी दीक्षा धारण की, वह धूनी रमा कर काय क्लेश करने लगा पर क्रोध चाण्डाल उससे दूर न हुआ। वह अपनी कलंकित करतूतों से लज्जित होने के वदले और उनका यथोचित प्रायश्चित करके भविष्य मे आत्मा को उज्ज्वल वनाने के वदले मरुभूति, अपने अनुज को मार डालने की घात में वैठा है।

मृदुल-हृदय मरुभूति ने कमठ के तापस होने का समाचार सुना तो उसका स्नेह-सिक्त अन्तःकरण वन्धुप्रेम से आर्द्र हो उठा। उसके नेत्रों से प्रेम के आंसू वहने लगे। वह भाई से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठा। एक दिन वह भाई से मिलने के निमित्त अपने घर से विदा हुआ और खोजते खोजते कमठ तापस के समीप जा पहुँचा। वड़े भाई पर दृष्टि पड़ते ही वह हर्ष के मारे गद्‌गद हो गया। उसका हृदय एकदम निश्छल और सरल था। उसे नही मालूम था कि कमठ अपने अपमान का एक मात्र कारण उसे ही समझ कर उसके प्राणो का ग्राहक वना वैठा है। उसने पास मे पहुँच कर कमठ को प्रणाम करने और क्षमा-प्रार्थना करने के लिए चरणों मे मस्तक नमाया। इधर मरुभूति पर नज़र गिरते ही कमठ का क्रोध और अधिक

धधक उठा। वह प्राणों का प्यासा तो पहले से ही था। उपयुक्त अवसर देख कर उसने पास में पड़ी हुई शिला उठाकर मरुभूति के माथे में दे मारी। शिला का प्रहार होते ही मरुभूति का मस्तक चूरा-चूरा हो गया। अन्त में तीव्र वेदना के साथ उसके जीवन का अन्त हो गया।

द्वितीय जन्म

मरुभूति मनुष्य पर्याय का परित्याग कर विन्ध्याचल पर्वत की गुफाओं में रहने वाले हाथियों के यूथ में हाथी हुआ। उसकी आकृति अतीव आकर्षक थी। उसके सभी अंगोपांग मनोहर और दर्शनीय थे। उधर कमठ की स्त्री का देहान्त हुआ और वह भी इसी हस्थी-यूथ में एक हथिनी के रूप मे उत्पन्न हुई।

पोतनपुर के महाराज अरविन्द आनन्द के साथ कालक्षेप करते हुए एक दिन झरोखे मे बैठकर नैसर्गिक दृश्य देख रहे थे। आकाश मंडल चहुँ ओर रंग-विरंगे मेघों से आच्छादित हो रहा था। मेघों के बीच-बीच में कभी-कभी बिजली चमक उठती और दूसरे ही क्षण वह शून्य में विलीन हो जाती थी। सघन मेघ घटाएँ मानों आकाश को मढ़ देना चाहती थीं। राजा अरविन्द यह दृश्य देख ही रहा था कि अचानक समय ने पलटा खाया। कुछ ही क्षणों के पश्चात् वायु के प्रबल थपेड़ों से मेघ तितर-बितर हो गये। देखते-देखते वही आकाश, जो सघन घन-घटाओं से मढ़ा हुआ दिखाई देता था और जिसमे चंचल विद्युत् दौड़-धूप मचा रही थी, एकदम स्वच्छ और नंगा सा दिखाई पड़ने लगा। पहले का दृश्य अदृश्य हो गया। मेघो की अनित्यता

और बिजली की क्षणभंगुरता को देखकर राजा के हृदय में संसार की अनित्यता का चित्र अंकित हो गया। वह मानो अब तक स्वप्न देख रहा था और अब यकायक जाग पड़ा। उसे ज्ञान हो आया। वह सोचने लगा—"ज्ञानी जन सच कहते हैं कि धन, यौवन के मद में फूला नहीं समाता, अपने सबल, सुन्दर और स्वस्थ शरीर पर इतराता है वही कल अर्धमृतक-सा बूढ़ा होकर मानों हाड़ों का पिंजर बन जाता है। उसके शरीर की सुन्दरता को जरा-राक्षसी जर्जरित कर देती है, बुढ़ापा बल को निगल जाता है और स्वस्थता की इति-श्री हो जाती है। इसी प्रकार कल तक जो धन-कुबेर था वही आज भाग्य प्रतिकूल होने पर बेर बीन कर उदरपूर्ति करता है। आज जो जमीन में धन गाड़ता है वही कल खोदने पर उसे कोयलों के रूप में पाता है। आज जो भड़कीला वेष धारणकर बड़े ठाठसे सजे हुए सुन्दर रथ पर बैठ कर निकलता है वही कल रथी (अरथी) पर लेट कर निकलता है। आज जो विषय-भोग पीयूष से प्रतीत होते हैं वही कल हलाहल विष के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक प्राणी के सिर पर मृत्यु चील की भांति मंडराती रहती है और अवसर पाते ही झपट्टा मारती है। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा, यहां तक कि देवता और देवेन्द्र भी मृत्यु की धाक से कांपते रहते हैं। फिर बेचारे साधारण मनुष्य किस खेत की मूली हैं? मानव जीवन जल के बुलबुले के समान क्षण-विनश्वर है। जब मृत्यु का आगमन होता है तो न परिवार सहायक होता है न धन-सम्पत्ति ही रक्षा कर सकती है। सुखोपभोग के समस्त साधन यहीं पड़े रहते हैं और आत्मा अपने किये हुए पुण्य-पाप के साथ अकेला चल देता है। अतएव विवेकशील व्यक्ति को चाहिए कि—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविन्दिया न हायंति, ताव धम्मंसमायरे ॥

अर्थात् जब तक जरा-जन्य आधि-व्याधियों ने आकर नहीं सताया है, जहां तक इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ हैं—उनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है, तब तक जितनी धर्म आराधना हो सके, कर लेना चाहिए। सन्त महात्माओं के इस सरल और सुस्पष्ट कथन का अनुसरण करके अनेक पुरुषों ने अपनी विशाल भोग सामग्री और राज्य साम्राज्य को त्याज्य समझा है और संयम की साधना मे वे तन्मय होगये हैं। वे धन्य है। मै भाग्यहीन आज तक राज्य लिप्सा का शिकार हो रहा हूं। मुझे अब तक संयम के अनुपम आनन्द को प्राप्त करने का अवसर नही मिला। मै भी अब सांसारिक विडम्बनाओं से अपना पिण्ड छुड़ाकर आत्म कल्याण के अर्थ जैनेन्द्री दीक्षा धारण करूं।"

राजा अरविन्द ने अपने विचार ज्यों ही प्रकाशित किये त्यों ही प्रजा में एक प्रकार की खलबली-सी मच गई। अन्तःपुर में रानियां उदास हो गई। वे दीनता पूर्वक कातर स्वर में कहने लगीं—'प्राणनाथ! हम अबलाओं को त्यागकर आप कहां जाते हैं? आपने राज-वैभव का उपभोग किया है और साधुवृत्ति तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। आपका यह सुकोमल शरीर उसके योग्य नहीं है। कहां तो उत्तमोत्तम रथों, अश्वों और गजेन्द्रों की सवारी और कहां विना पादत्राण पैदल बिहार! कहां सरस, सुस्वादु मनोहर और नाना प्रकार का पौष्टिक षट् रस भोजन और कहां सूखा-रूखा भिक्षान्न। कहां दुग्ध धवल

सुकोमल सुमन-सेज और कहाँ कठिन भूमि-शयन । कहां दशों दिशाओं को अपनी मनोहर सुरभि से सुरभित कर देने वाला विलेपन और स्नान और कहां स्नान का आजीवन परित्याग ! कहाँ उष्णकाल मे चन्दन, उशीर आदि सुगंधी और शीतल वस्तुओं का सेवन और कहां वालू पर निश्चलता के साथ स्थित होकर कड़ी धूप मे आतापना लेना। कहां शीत काल मे गर्म महलों मे गर्म वस्त्रों का परिधान और कहां कायोत्सर्ग धारण करके नदी किनारे का अवस्थान ! कहां उंगली के इशारे पर नाचने वाले सहस्रों दास, दासियां और कहां अपनी उपाधि को स्वयं लाद कर चलना ! कहा इन कमनीय केशों का सुगंधित तैलों से सुवासित करना और कहां इनका अपने हाथों से लुंचन करना ! कहा यह रत्न-जटित सुवर्णमय आभूषण और कहां मिट्टी तूंवे या लकड़ी के पात्र ! नाथ, यह कष्ट तो सामान्य रूप से हमने बताये हैं। साधुवृत्ति तो इससे भी अधिक कठोर है । उसमे प्राणान्तक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी मानसिक समाधि मे, समता भाव मे स्थित रहना पड़ता है, वैरी पर भी मैत्री भाव रखना होता है। मन का दमन, इच्छाओं का निरोध और वासनाओं का विनाश करना तो उस अवस्था मे अनिवार्य ही है। यह सब आप से न होगा। साधुवृत्ति मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना है और रेत के लड्डुओं को हज़म करने के समान दुष्कर है। अतः हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। घर मे रह कर गृहस्थधर्म का पालन कीजिए। गृहस्थ धर्म भी तो मुक्ति का ही सोपान है।"

महारानियों की मोह-ममतामयी बाते सुनकर राजा अरविन्द बोले—"महारानियो, सुनो । साधुवृत्ति की जिस कठोरता का

अत्युक्तिपूर्ण चित्र तुमने मेरे सामने अंकित करके मुझे भयभीत करना चाहा है, उससे मेरे संकल्प में तनिक भी शिथिलता नहीं आने पाई। बाह्य पदार्थों से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख कल्पना-प्रसूत हैं। उनमे कोई तथ्य नही है। एक व्यक्ति जिसे सुख मानता है उसी को दूसरा दुःख मान बैठता है और जिसे एक दुःख मानता है दूसरे उसे सुख समझ कर गले लगाते हैं। एक रस लोलुप जिस भोजन को नीरस समझ कर घृणा पूर्वक ठुकरा देता है उसे एक दरिद्र पुरुष आन्तरिक आह्लाद के साथ ग्रहण करके कृतार्थ हो जाता है। भोजन मे ही यदि दुःख-सुख उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह सभी में एक-सी भावना उत्पन्न करता। इससे यह प्रतीत होता है कि सांसारिक सुख-दुख हमारे मनो यंत्र में निर्मित होते हैं। इसके अतिरिक्त हम मोह वश जिसे सुख कहते है वह है कितने दिन का? आज है कल नही। बड़े-बड़े सम्राटों को पल भर में फकीर होते देखा जाता है और आयु के अंत मे तो वे अवश्य ही बिदा होते हैं। सुख के सभी साधन जब हमे छोड़कर जाने वाले है तो क्यों न हम स्वयं इच्छापूर्वक उनका परित्याग करदे? इच्छा पूर्वक त्याग करने से वियोग-व्यथा से हृदय व्यथित नहीं होता है। अन्तःकरण संतोष जन्य सुख का संवेदन करता है और आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है। राई भरे सुख के लिए सुमेरु बराबर दुःखों को निमंत्रण देना विवेकशीलता नही है और न क्षणभर की संपत्ति के लिए दीर्घकाल की विपत्ति का आह्वान करना बुद्धिमत्ता है।

मुनि वृत्ति दुःखो का आगार नहीं मगर सुखों का सागर है। निवृत्तिजन्य अनिवर्चनीय आनंद का प्रवाह वहाने वाली सुर-सरिता साधुवृत्ति ही है। संयम और संतोष मे जो सुख है वह

संसार के सुख साधनों में कहां ? साधु अपनी इन्द्रियों और मन पर सदैव अंकुश रखता है। वे विषयों की ओर कभी आकृष्ट नहीं होते। मुनि समस्त कामनाओं पर विजय प्राप्त करता है अतएव कामनाओं की पूर्ति के लिए उसे प्रयास ही नहीं करना पड़ता। अन्तरात्मा में आनन्द का जो असीम और अक्षय समुद्र लहरा रहा है उसमें अन्तर्दृष्टि महात्मा ही अवगाहन कर सकते है ! उसमें एक बार जिसने अवगाहन किया वह संसार के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट समझे जानेवाले सुखों को तुच्छ और नीरस समझ कर उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता।

थोड़ी देर के लिए बाह्य दृष्टि से यह मान लिया जाय कि तुमने साधुवृत्ति के जिन कष्टों का दिग्दर्शन कराया है वे वास्तविक हैं, तो भी इस आत्मा ने विषयों के वश होकर अनादिकाल से जो घोर वेदनाएँ सहन की है उनकी तुलना में यह कष्ट बिलकुल नगण्य है। नरक की रोमाञ्चकारिणी व्यथाएँ अनन्त बार इसी आत्मा ने भुगती हैं। तिर्यञ्च गति की प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली यातनाएँ इसी आत्मा ने सहन की है। तो क्या यह आत्मा इन थोड़ी-सी वेदनाओं को सह न सकेगा ? देवियो मन की कायरता तिल को ताड़ बना देती है। धर्म की आराधना सुखमय है और सुख का कारण भी है। धर्म ही सच्चा सखा है। वही शाश्वत कल्याण का जनक है। इस विशाल विश्व मे धर्म के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका शरण जन्म-मरण के कारण उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्त कर सकता हो। अतएव पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्य के परिपाक से मुझ मे जो प्रशस्त परिणाम उत्पन्न हुआ है उससे तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिए और मेरे श्रेय-मार्ग मे सहायक बन कर अर्धाङ्गिनी पद की मर्यादा

अक्षुण्ण रखना चाहिए।"

इस प्रकार रानियों को समझा बुझाकर राजा अरो उन्हें शान्त किया। उनके अध्यवसाय विशुद्ध होते गये। परिणामों की विशेष विशुद्धता से उनके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगया और अवधिज्ञान का उदय हुआ। अवधिज्ञान होने पर उन्होंने अपने पुत्र महेन्द्र को राजसिंहासन पर आसीन किया और अपना समस्त राजकीय उत्तरदायित्व एवं अधिकार उसे सौप दिये। तदनन्तर श्रीभद्राचार्य के चरण कमलों में उपस्थित होकर उनसे दीक्षा अंगीकार की। अपने गुरु श्री भद्राचार्य से उन्होंने चौदह पूर्वों का ज्ञान सम्पादन किया और विशिष्ट साधना के निमित्त एकल विहारीपन धारण किया। उसी दिन से वे पहाड़ो की गुफाओं में रहने लगे। मुँह पर बांधने के लिये मुँहपत्ती और जीव-रक्षा के लिये रजोहरण उनके पास था। भिक्षा के लिए नियत समय पर बस्ती मे जाते। एक वस्त्र और पात्र ही वे रखते थे। उन्होंने जिनकल्प धारण कर लिया था। जिस वस्ती में यह मालूम हो जाता कि जिनकल्पी मुनि यहां आस पास के जंगल मे ठहरे हुए हैं वे उस वस्ती से दूर अन्यत्र कहीं जंगल में चले जाते थे।

जिनकल्पी मुनियों का आचार अत्यन्त दुर्धर है। इस कल्प को वज्र-ऋषभनाराच संहनन के धारी महा सत्वशाली महात्मा ही धारण कर सकते हैं। इस काल मे उक्त संहनन का बिच्छेद हो जाने से जिनकल्प का भी विच्छेद हो चुका है।

अरविन्द मुनि ने जिनकल्प धारण करते ही एक एक महीने की तपस्या आरम्भ करदी। एक वर्ष में उन्होंने केवल बारह बार आहार ग्रहण किया। इस घोर तपस्या से उन्हें अनेक लब्धियो

की प्राप्ति हुई। मन पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से उन्हें मन पर्याय ज्ञान भी उत्पन्न हो गया। मुनिराज एक बार विहार कर रहे थे कि मार्ग में सागरदत्त नामक एक सार्थवाह से उनकी भेंट हो गई। सार्थवाह ने पूछा—'भगवन्! आपने यह कपड़ा मुँह पर क्यों बांध रखा है? उन्होंने कहा—'भद्र, यह मुख पर का वस्त्र जैन साधुओं के आदर्श त्याग का द्योतक है। इस वस्त्र से ही पहचाना जाता है कि यह जैन साधु है। इसे मुखवस्त्रिका कहते हैं। मुखवस्त्रिका शास्त्रों के पठन-पाठन के समय थूक द्वारा शास्त्रों को अपवित्र होने से बचाती है अर्थात् उसके मुँह पर बंधे रहने से शास्त्रों पर थूक नहीं गिरता। और खास कर भाषा के पुद्गलों से हवा के टकराने पर जो जीव हिंसा होती है वह इस मुँहपत्ति के द्वारा बच जाती है।'

सार्थवाह—महाराज, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि क्या हवा नाक के द्वारा नहीं निकलती है?

मुनिराज—मैंने यह कब कहा कि प्राकृतिक सचित्त हवा से जीवहिंसा होती है? जीवहिंसा तो तब होती है जब प्राकृतिक सचित्त हवा से कृत्रिम अचित्त हवा का संघर्ष होता है। तात्पर्य यह है कि भाषण करते समय भाषा के पुद्गलों से जो अचित्त वायु उत्पन्न होकर सचित्त वायु से टकराती है तब सूक्ष्म जीव मरते हैं और इसलिए मुँहपत्ती बांधी जाती है।

सार्थवाह—अच्छा महाराज, यह एक गुच्छा-सा किस लिए है?

मुनिराज—भाई, सूर्य के प्रकाश में तो देख भाल कर चलने से जीवहिंसा से बचा जा सकता है, मगर रात्रि में जब थोड़ा-बहुत चलने फिरने का काम पड़ता है तो भूमि को इस रजोहरण

से परिमार्जित करके चलते हैं। इस प्रकार करने से जो चिउँटी आदि जीव-जन्तु उस भूमि पर होते है वे इस ऊनी रजोहरण के कोमल स्पर्श से बिना कष्ट पाये एक ओर हो जाते हैं। पैर के नीचे आकर उनके मरने की संभावना नही रहती।

सार्थवाह—महाराज! आप देव किसे मानते हैं?

मुनिराज–जिस महापुरुष में दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय, हास्य, रति, अरति, जुगुप्सा, भय, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, अव्रत, राग और द्वेष ये अठारह दोष विद्यमान न हों, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति संपन्न हों वही हमारे अभिमत देव हैं। ऐसे देव त्रिलोकपूज्य होते है। सुर, नर, ऋषि और मुनिगण सभी उस देव की एक स्वर से महिमा गा रहे है। ऐसे सच्चे देव की उपासना भाग्योदय से ही प्राप्त होती है। हम उसी निरंजन भगवान् की सदैव उपासना करते हैं। जो भद्र जीव ऐसे देव के शरण को ग्रहण करते हैं वे निकट भविष्य मे ही जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं हां, यदि कोई मलिन भावों से या किसी दुर्वासना की पूर्ति के उद्देश्य से उपासना करे तो वह पाप का ही उपार्जन करता है। प्रतिष्ठानपुर के नंद और भद्रक इस कथन के प्रमाण है। उनकी कथा इस प्रकार है:—

प्रतिष्ठानपुर मे नन्द और भद्रक नामक दो वणिक पुत्र रहते थे। दोनो सहोदर भ्राता थे। पर उनकी प्रकृति बिलकुल भिन्न थी। दोनों की दुकाने अलग-अलग थीं। भद्रक प्रातःकाल होते ही दुकान पर जा बैठता था। वह न कभी माला फेरता, न गुरु-दर्शन करता। नन्द इससे सर्वथा विपरीत प्रतिदिन गुरुदर्शन करता, सामायिक करता और तब दुकान खोलता था। इस प्रकार

दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। पर भद्रक यद्यपि दुकान प्रातः काल खोल लेता था किन्तु अपने आपको धर्मध्यान न कर सकने के कारण मन ही मन सदा कोसता रहता और कहता—धन्य है मेरा लघुभ्राता नन्द, जो प्रातःकाल गुरुदर्शन करता है, सामायिक करता है। एक मैं पापी हूँ जिससे तनिक भी धर्मक्रिया नहीं बन पड़ती। सामायिक तो दूर रही मैं तो गुरुदर्शन भी नहीं करता हूँ। हाय, न जाने भविष्य में मेरी कैसी दुर्गति होगी। इस प्रबल तृष्णा ने मुझे कैसा अपने जाल में फांस लिया है! भद्रक इस प्रकार शुभ भावना द्वारा सदैव पुण्य का उपार्जन कर लेता था। उधर नन्द गुरुदर्शन करता था, सामायिक भी करता था, पर उसके भावों में निर्मलता न होती थी। वह सोचता रहता देखो, मेरे ज्येष्ठ भ्राता कितने शीघ्र दुकान खोल लेते हैं। अवश्य ही वे अधिक माल बेचते होंगे और अधिक धनोपार्जन भी करते होंगे। मैं ऐसा पापात हूँ कि आय के समय व्यर्थ ही इधर आकर माथापच्ची करता हूँ। मगर करूँ क्या, एक दिन भी नागा करता हूँ तो गुरुजी आफत मचा देते हैं, लोकनिन्दा होती है और अब तक जो प्रतिष्ठा मैंने बना रखी है उसमें धब्बा लगता है। इसके अतिरिक्त मूर्खतावश मैंने प्रतिदिन सामायिक करने की प्रतिज्ञा भी लेली है। मेरी पत्नी को भी, इन गुरु महाराज ने भुलावे में डाल रखा है। मैं सामायिक न करूँ तो वह भी सौंठ बन कर बैठी रहती है—बात भी नहीं करती। पर इसी प्रकार चलता रहा तो भद्रक शीघ्र ही धनाढ्य हो जायगा और मैं यों ही रह जाऊँगा।" इस प्रकार के अशुद्ध अध्यवसाय के कारण उसे अन्तर आयु का बंध हुआ। भद्रक यद्यपि द्रव्य क्रिया न करता था तथापि भावों की निर्मलता के कारण वह

प्रथम स्वर्ग में दिव्य तेज का धारक देव हुआ।"

आशय यह है कि जब तक कोई भी धर्मक्रिया केवल शारीरिक रहती है और अन्तःकरण से उसका स्पर्श नहीं होता तब तक वह अपना फल प्रदान नहीं करती। भावहीन चारित्र विडम्बना मात्र है। मन प्रधान है। आत्मा का उत्थान और पतन मन की शुभाशुभ परिणति पर ही निर्भर है। सार्थवाह आप भी जो उपासना करें उसमें परिणामों की निर्मलता रखें, तभी वीतराग देव की आराधना सार्थक होती है।

मुनिराज अरविन्द का प्रभावपूर्ण उपदेश सुन सार्थवाह सागरदत्त ने उनसे श्रावक के व्रत ग्रहण किये। वह देशविरति का आराधक श्रावक बन गया। मुनिराज ने वहां से विहार किया और सागरदत्त भी चल दिया।

एक बार फिर मुनिराज अरविन्द की सेठ सागरदत्त से विन्ध्याचल की खोह में भेंट हो गई, जहां भावी पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति हाथी के रूप में रहता था। उस दिन वह हाथी अपने यूथ के साथ जल पीने के लिए सरोवर के समीप पहुँचा तो क्या देखता है कि वहां किसी का पड़ाव पड़ा है। वह आग बबूला हो गया। उसने मेघ की गर्जना को तिरस्कृत कर देने वाली प्रबल चिंघाड की और पड़ाव के मनुष्यों की ओर झपटा। पड़ाव के सभी मनुष्य मदोन्मत्त और क्रुद्ध हाथी को चिंघाड़ते हुए अपनी ओर आता देख अपनी-अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागे। मुनिराज पड़ाव के पास ही ध्यानमग्न थे। हाथी बिगड़ता हुआ उनकी ओर मुड़ा। ज्यों ही वह उनके समीप पहुँचा त्यों ही उसने अपने आपको अशक्त-सा पाया, मानो किसी ने मंत्र द्वारा उसके अप्रतिहत सामर्थ्य को कील दिया हो।

उसने अनुभव किया—जैसे मेरी यह प्रबल बलवती सूंड अचेतन-सी हो गई है, मरे हुए सांप के समान निर्बल हो गई है। मुनिराज का ध्यान जब समाप्त हुआ तो उन्होंने गजराज पर एक स्नेह भरी अमृत-दृष्टि डाल कर कहा—'अहो गजराज, अपने जीवन को यों बर्बाद कर रहे हो? अपने पूर्व-भव की घटना का तो स्मरण करो। जब तुम्हारे भाई कमठ ने तुम्हारे मस्तक पर शिला का प्रहार किया था, तब तुम्हारे परिणाम यदि उच्च श्रेणी के रहे होते तो इस तिर्यञ्च गति में क्यों जन्म लेना पड़ता? मलिन विचारों के कारण ही तुम्हारी यह दशा हुई है। मगर जो गया सो गया। अब भी समय है, संभल जाओ। आत्महित की ओर लक्ष्य करो और उसी ओर आगे बढ़ो।

मुनिराज का कथन सुनते ही हाथी को भूली हुई सब घटना स्मरण हो आई। उसका आत्मा जातिस्मरण नामक ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठा। ज्ञान का उदय होते ही उसे अपने पिछले कार्यों का अत्यन्त पश्चाताप हुआ। उसने अपनी सूंड से मुनि के पावन चरणों का स्पर्श किया; और अपनी श्रद्धा-भक्ति का पूर्ण परिचय दिया।

मुनि बोले—गजराज! यह सारा संसार नाटक का रंगमंच है। सब संसारी जीव इस रंगमंच पर खेल खेलने वाले नाटक के पात्र हैं। यह जीव कभी कोई रूप धारण करता है, कभी कोई। तुम अपने ही रूपों पर विचार करो। पूर्व जन्म में तुम ब्राह्मण के रूप में थे। श्रावक-धर्म पालन करते थे। अन्त समय तुम्हारे भाई ने तुम्हारे ऊपर शिला पटकी। उस समय थोड़ी देर के लिए तुम्हारे मन में आर्त ध्यान उत्पन्न हुआ उसका फल यह हुआ कि इस भव में तुम्हें तिर्यंच होना पड़ा है।

तुम्हारे भाई ने क्रोध के आधीन होकर कैसा भयंकर दुष्कृत्य किया ? तुम उसे भली भांति जानते हो फिर भी स्वयं क्रोध से अंधे होकर, विकराल भावों से नर-संहार करने के लिए उद्योगशील हो रहे हो। भद्र, अब सावधान होओ। भविष्य का विचार करो। अधिक कुछ न कर सकते तो इतना अवश्य करो कि भविष्य में कभी मनुष्य की हिंसा न करना। अपनी मर्यादा में यथाशक्ति श्रावक की भांति रहना।

हाथी ने अपना सिर हिलाकर इन प्रतिज्ञाओं के पालन करने की स्वीकृति दी। मुनि और हाथी का यह संवाद वरुणा नामक हथिनी ने, जो पूर्व भव में कमठ की पत्नी थी, सुना और सुनते ही उसे भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मरण, मतिज्ञान का ही एक भेद है और उससे पूर्वजन्मों का स्मरण हो जाता है। यह ज्ञान आजकल भी हो सकता है और किसी किसी को होता भी है। समाचारपत्रों के पाठकों को मालूम है कि

सामर्थ्य का उदय हुआ उसने चार घनघातिया कर्मों को चकचूर कर दिया। उन्हें सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त हुई। समस्त लोकालोक उनके ज्ञान में हस्तामलक से भी अधिक सुस्पष्ट रूप से आलोकित होने लगा। अन्त मे चार अघातिक कर्मों का भी क्षय करके महात्मा अरविन्द मुक्तिधाम मे जा विराजे।

इधर मरुभूति का जीव हाथी दो-दो-चार-चार दिनों तक कुछ भी न खाता था। जब कभी खाता भी तो वृक्षों की सूखी पत्तियों से संतोष कर लेता था। ऐसा करने से हाथी का शरीर दुर्बल हो गया।

अब कमठ की ओर ध्यान दीजिये। वह तापस रूप मे अपने दिन बिता रहा था। जब उसने अपने सहोदर मरुभूति के प्राण ले लिये और उसके गुरु को उसकी इस भीषण पापमय करतूत का पता चला तो उसने कमठ को अयोग्य और नृशंस समझकर अपने आश्रम मे आश्रय देना उचित न समझा। उसे तत्काल निकाल बाहर कर दिया। इस घटना से आग मे और घी पड़ गया। अब उसके क्रोध का रूप अधिक प्रचड होगया। वह अपना पापमय समय व्यतीत करता हुआ आयु के अंत होने पर विन्ध्याचल के पहाड मे कुर्कट जाति का सर्प हुआ। क्रोध के प्रभाव से वह सर्प इतना विषैला हुआ कि लोग उसके भय के मारे थर्रा उठे। पथिकों का उसके निवास-स्थान की ओर आवागमन बंद होगया। यहां तक कि पशु भी उस ओर जाने का साहस न करते थे। तीव्र विष-धारक उस सर्प की विषैली फुकारों से समस्त जंगल ऐसा रुण्ड-मुण्ड हो गया मानों दावानल ने सारे जंगल को भस्म कर डाला हो। भावी प्रबल होती है। होनहार टलती नहीं। संयोगवश मरुभूति का जीव

हाथी सूखी पत्तियां खाकर भूखा-भटका पानी पीने के निमित्त उधर जा पहुँचा। उसे पता नहीं था कि उसका पूर्वजन्म का सहोदर विषधर सर्प बन कर यहीं त्राहि-त्राहि मचवा रहा है। वह पानी पीने के लिए सरोवर में उतरा। कीचड़ की अधिकता के कारण और तपस्या से दुर्बल होने के कारण वह कीचड़ में फँस गया और निकलने में असमर्थ हो गया। सर्प लहराता हुआ हाथी के समीप आया। हाथी को देखते ही वह मानों जल उठा और उछल कर उसके कुम्भ-स्थल पर ऐसा डंक मारा कि पलभर में सारा शरीर विष से व्याप्त होगया। हाथी ने अपने जीवन का अवसान जान अनशन धारण कर लिया और शरीर के प्रति भी ममता का परित्याग कर समता के सरोवर में अवगाहन करने लगा। उसने विचार किया—अरिहंत भगवंत मेरे देव है, निर्ग्रंथ मेरे गुरु हैं और जिनेन्द्र-प्रणीत धर्म ही मेरा धर्म है। जन्म-जन्मान्तरों मे मेरी श्रद्धा इसी प्रकार की स्थिर रहे, यही मेरी अन्तिम भावना है।' उसने अठारह पापों का त्याग किया और मनोयोग से संसार के समस्त जीवो से क्षमा प्रार्थना की और अपनी ओर से सब को क्षमा दान दिया। उसने सर्प के प्रति भी क्रोध का भाव न रहने दिया। सोचा संसार में प्रत्येक प्राणी कर्मों के साम्राज्य मे निवास करता है। जो कुछ शुभ या अशुभ, सयोग या वियोग, हानि या लाभ होता है कर्मों के कारण ही होता है। अन्य प्राणी या वस्तु तो कर्मों का हथियार है, निमित्त मात्र है। यथार्थ में तो कर्म ही सुख-दुःख के कारण है। मुझे सर्प ने काटा है पर सर्प तो असातावेदनीय या आयु कर्म का निमित्त कारण है। यदि असातावेदनीय का उदय न होता अथवा आयु का अन्त न आगया होता तो बेचारे सर्प की क्या शक्ति थी जो मेरे रोम को भी स्पर्श करता।

कर्म ही सब अनर्थों के मूल हैं। उनका उन्मूलन करना ही मेरा कर्त्तव्य है। सर्प पर क्रोध करना निरर्थक ही नहीं भविष्य में हानिकारक है। वह भी कर्मों का मारा है। संभव है कभी किसी भव में मैंने उसे कष्ट पहुँचाया हो और उसका ऋण अब तक न चुक पाया हो। आज उस ऋण से मुक्त हो गया। एक भार कम हुआ।' इस प्रकार समता-भाव के साथ विष-वेदना को सहन करके हाथी ने अपना आयु पूर्ण किया।

तृतीय जन्म।

जैसे एक विद्यार्थी लगातार वर्ष भर परिश्रम कर अपनी योग्यता की वृद्धि के लिए प्रयत्न करता है और परिक्षा में उत्तीर्ण होने पर अपने परिश्रम को सार्थक समझता है उसी प्रकार जीवन में दान, पुण्य, सयम, व्रत, सामायिक आदि-आदि जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं उनकी सार्थकता तब होती है जब व्यक्ति मृत्यु के प्रसग पर समता भाव रख कर आगामी भावों को सुधारता है। जीवन मे जो धर्म के सुन्दर संस्कार अन्तरात्मा पर अंकित होते जाते हैं उनसे मृत्यु स्वयं सुधर जाती है। हाथी के संबध मे यही हुआ। वह अत्यंत साम्य भाव मे तन्मय रहा अत: मरकर सहस्रार स्वर्ग मे सत्तरह सागर की आयुवाला देवता हुआ।

अन्तर्मुहूर्त मे अर्थात ४८ मिनट के भीतर ही वह देव नव-युवक होगया। उनके वैक्रिय शरीर के सौन्दर्य का वर्णन करना अशक्य है। उसका रूप-लावण्य दिव्य ही था। कानों मे कुण्डल, मस्तक पर मणिमय मुकुट, भुजाओं मे बाजूबन्द, गले मे सुन्दर हार, उंगलियों मे मुद्रिकाएँ, कटि मे स्वर्ण-मेखला, आदि लोको-

त्तर आभूषणों से और देवदूष्य वस्त्रों से उसका दिव्य तेज धारी शरीर अतिशय सुन्दर और मनोहर ज़ान पड़ता था। उसे उत्पन्न हुआ जानकर वहाँ के आज्ञाकारी देवी-देवता उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े होगये। उन्होंने प्रार्थना की—'आपकी जय हो, विजय हो। हम लोग आपके किंकर देव हैं। आज्ञा-प्रदान कर हमें कृतार्थ कीजिए। वहां का कार्यक्रम समाप्त होने पर वह देव देव-सभा में आता और सिंहासन पर आसीन हो जाता है। आज्ञाकारी देव-देवी उसे अपना स्वामी समझ कर उसके आगे नत-मस्तक होकर खड़े रहते हैं। वे नया स्वामी पाकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। अपने स्वामी का मनोरंजन करने के लिए भांति-भांति के नाटकों का आयोजन करते हैं। हाथी का जीव इस प्रकार दिव्य ऐश्वर्य का उपभोग करता हुआ आमोद-प्रमोद के साथ समय यापन करने लगा। वहाँ के सुखों का समग्र वर्णन करना सागर के जल को नापने का प्रयत्न करना है। देवों का शरीर मनुष्यों के शरीर की तरह रुधिर आदि सप्त धातुमय नहीं होता बल्कि कपूर की तरह होता है। देवता पलक नहीं मारते और पृथ्वी से कम से कम चार अंगुल ऊंचे अवश्य रहते हैं। उनकी आयु जब छः महीने शेष रह जाती है तब उनके गले की फूलमाला कुम्हला जाती है।

वरुणा हस्तिनी भी अपने अन्तिम समय में स्वेच्छा से खाना-पीना त्याग देने तथा तपस्या करने के कारण दूसरे देवलोक में देवीरूप से उत्पन्न हुई। यह देवी अन्य किसी भी देव की आकांक्षा न करके केवल उसी देव पर आसक्त थी जो पहले हाथी के रूप में इसका साथी था। जब देव को इस देवी की प्रेमभावना विदित हुई तो वह उसे अपने साथ सहस्रार स्वर्ग में

ले गया। इस प्रकार देव-देवी मिलकर स्वर्गीय सुखों का संवेदन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

कुर्कट जाति का वह भीषण सर्प मर कर पांचवे नरक में नारकी हुआ। उसने अपने जीवन मे न जाने कितने प्राणियों का संहार किया था, कितनो को घोर वेदना और त्रास पहुँचाया था। इसके फल-स्वरूप उसे नरक के घोर कष्ट भुगतने पड़े। नरक के दुःखो का वर्णन करने के लिए भाषा असमर्थ है। वहां एक पर एक दुःख निरन्तर ही आते रहते है और वे भी इतने भयंकर कि उनकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते है। वहां पल भर भी कभी शान्ति नही मिलती। नरक की भूमि ही इतनी व्यथाजनक है कि उसके स्पर्श से एक हजार विच्छुओ के एक साथ काटने के बराबर वेदना होती है। इस क्षेत्रजन्य वेदना के अतिरिक्त नारकी आपस मे घोरतर वेदनाएँ एक-दूसरे को देते है और फिर परमाधामी देवता और भी ग़जब ढा लेते है। इस प्रकार के कष्टो से बचने का उपाय प्राणीमात्र के हाथ में है। जो विषयो को विष के समान समझकर उनमे अत्यन्त आसक्त नही होता, अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रख कर अपने ममत्व को सीमित कर लेता है, अपना जीवन धर्ममय बनाकर सयम के साथ रहता है वह नरक का भागी नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि विषयों का परित्याग करो। विषयभोग वर्त्तमान मे यद्यपि सुखप्रद प्रतीत होते है पर यह सुख खाज को खुजाने के सुख के समान परिणाम मे घोर दुःख देने वाला है कमठ के जीव ने 'कमठ-जन्म' और 'सर्प-जन्म' मे जो पाप किये उनका फल उसे यह मिला है। पाप के द्वारा आत्माका जो पतन होता है उसका एक उदाहरण कमठ का जीव है।

चतुर्थ जन्म

मोही जीव अपनी गलती हुई आयु की ओर दृष्टिनिपात नही करते। जीवन-घट मे से प्रतिदिन, प्रतिपल, एक-एक बूंद कम होती जाती है पर मोही जीव उसे हर्ष का प्रसंग मानकर उत्सव मनाते है। 'लल्लू आज पांच वर्ष के हो गये है, चलो इनकी वर्ष-गांठ मनाये।' इस प्रकार बड़े आमोद-प्रमोद के साथ वर्ष-गांठ मनाई जाती है पर लल्लू के काकाजी को यह पता ही नही कि लल्लू के जीवन में से एक वर्ष कम हो गया है अतः वर्षगांठ का आनंद मनावे या "वर्ष-घाट' का खेद मनावे ? इस प्रकार वर्ष-गांठ मनाते-मनाते सहसा काल आ पहुँचता है और जीव को गाठ ले जाता है। अतएव भव्यजीवों को चाहिए कि सदा धर्म की आराधना करे—क्षणमात्र भी प्रमाद न करें। देव की सत्तरह सागर की स्थिति भी घटते-घटते अंत मे समाप्त होगई। वह अपने वैक्रिय शरीर को तथा देवलोक के समस्त भोगोपभोगों को छोड़ कर विद्युतगति नामक नृपति की महारानी तिलकावती के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महाविदेह क्षेत्र मे सुकच्छ के बीच वैताढ्य पर्वत पर तिलकापुरी है। विद्युतगति उस पुरी का शासक था। यह सब विद्याधरों का स्वामी था। सब विद्याधरों पर उसका पूर्ण प्रभाव था। विद्युतगति की महारानी तिलकावती सुकुमारी, सुन्दरी, सदाचारिणी और विनम्र थी। मरुभूति का जीव वह देव इसी की कुक्षि मे अवतरित हुआ। नौ मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर उसका जन्म हुआ। उसके समस्त लक्षण महा-पुरुषों के योग्य देख कर माता-पिता की प्रसन्नता की सीमा न रही। पुत्र जन्म के उपलक्ष्य मे महोत्सव मनाया गया, मुक्त हस्त से

दान-पुण्य किया गया। अनेक कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये। दीन-दरिद्रों को दान आदि वितीर्ण किये गये। भूखों को भोजन दिया गया। यथोचित संस्कार होने के पश्चात् नामकरण संस्कार किया गया। पुत्र का नाम "करणवेग' रक्खा गया।

करणवेग का लालन-पालन बड़ी सावधानी से हुआ। उसके लिए पाँच धातमाताएँ नियुक्त की गईं। धाय-माताएँ उसके वस्त्रों की सार-संभाल रखतीं, उन्हें साफ-सुथरा करतीं, खेलातीं और दूध पिलातीं। बालविनोद और बालविकास की सब सामग्री प्रस्तुत थी। विनोद की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की गई थी कि बालक विनोद के साथ-साथ उपयोगी शिक्षाएँ भी ग्रहण करता चले एवं उसकी इन्द्रियों तथा मानस का विकास भी होता रहे। धायें इतनी सुशिक्षित और कुशल थीं कि वे खेलकूद में ही बालक को संयम साहस, उद्योगशीलता और धर्मनिष्ठा का पाठ पढ़ाती थीं। वे धायें आजकल की अनेक माताओं की भाँति इतनी निष्ठुर और निर्विवेक न थीं कि अपने आराम के लिए बालकों को अहिफेन (अफीम) खिलाकर व्यसनी बना डालतीं। उन्हें ज्ञात था कि अफीम खिलाने से बालक की चेतनाशक्ति में जड़ता आजाती है, उनका शरीर अनेक रोगों का आगार बन जाता है और आगे चलकर बालक मद्यपी या भंगेड़ी गंजेड़ी बन जाता है। बड़ी उम्र होने पर जो नशेबाज हो जाते हैं उनमें ऐसे बहुतेरे निकलेंगे जिन्हें बचपनसे माताओं की बदौलत ही नशा करने की कुटेव पड़ गई है। समझदार माताएँ इस प्रकार की मूर्खतासे सदा बचती हैं

१- कहीं-कहीं 'किरणवेग' नाम का उल्लेख है। देखो हेमविजयगणि का पार्श्वनाथ चरित द्वि० सर्ग।

और अपने प्रिय बालक के जीवन को कदापि मिट्टी मे नहीं मिलाती। बालक करणवेग के लिए नियुक्त धायें सदैव इस बात का ध्यान रखती थी और किसी भी हानिजनक वस्तु का सेवन न कराती थी।

बालक करणवेग साढ़े सात वर्ष का हो गया तो महाराज विद्युतवेग ने उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध किया। बालक कुशाग्र-बुद्धि था। थोड़े वर्षों मे, अल्प परिश्रम से ही उसने विविध शास्त्रों और कलाओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया। राजनीति मे वह अत्यन्त निपुण हो गया था। उसे राजनीतिक दाव-पेच भली-भांति आ गये थे। कठिन उलझी हुई समस्याओ को वह बात की बात मे सुलझा डालता था। उसकी राजनीति-निपुणता, उसकी धर्मनिष्ठा और उसके विनम्र स्वभाव को देखकर प्रजा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती और सुयोग्य उत्तराधिकारी पाकर अपने सद्भाग्य की सराहना करती थी। बालक करणवेग अपने माता-पिता आदि आत्मीय जनो के हृदय और नयनो को आनन्द पहुँचाता हुआ धीरे-धीरे द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा।

अब करणवेग ने युवावस्था मे प्रवेश किया। उसकी मूँछो की रेख दिखाई देने लगी और कांख मे बाल आने लगे। राजा ने करणवेग की युवावस्था देख और उसे सर्वथा विवाह के योग्य समझ कर अपने सामंत राजा की एक सर्वगुण संपन्न सुन्दरी कन्या पद्मश्री के साथ उसका विवाह कर दिया। राजकुमार और उसकी पत्नी ये दोनो आनंदमयी समयको व्यतीत करने लगे।

प्राचीन काल मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थो को परस्पर बाधा न पहुँचाते हुए सेवन किया जाता था।

अपने उत्तराधिकारी पुत्र के सुयोग्य होने पर पिता अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण हुआ समझ कर पुत्र को कार्य भार सौंप देता और आप निराकुल होकर धर्म की आराधना करता था। तद्नुसार महाराज विद्युतवेग ने भी युवराज को सब प्रकार सुयोग्य समझ कर, उसके कंधों पर राज्य का समस्त भार डाल कर निश्चिन्त हो दीक्षा-धारण करने का विचार किया। उसने अपना यह विचार अपने मंत्रियों को कह सुनाया। मंत्री-गण महाराज के धार्मिक विचार से सम्मत हुए। तब उसने युवराज को बड़े प्रेम के साथ अपने पास बुलाया और कहा—"प्रिय वत्स, अब मेरी वृद्धावस्था आ गई है। चार दिनों का मेहमान हूँ। न जाने किस दिन यह जीवन-लीला सहसा समाप्त हो जायगी। अतः बचे हुए इस थोड़े से समय मे मै आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहता हूँ। 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेक रूपा' अर्थात् राजनीति वेश्या की भांति विविध रूपधारिणी है। इसमे छल-बल-कौशल से काम लेना पड़ता है। जो राजा प्रजा के हित का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है उसे अपने आपको भूलकर प्रजा-हित को ही प्रधान समझना पड़ता है। इस उत्तरदायित्व के साथ-साथ निराकुलता पूर्वक आत्म-साधना नहीं हो सकती। अतः मैं अब यह उत्तरदायित्व तुम्हें सौंपना चाहता हूँ। तुम वीर हो, विद्वान् हो, साहसी हो, गुणवान् और परिश्रमी हो। सब प्रकार योग्य हो गये हो। मेरा बोझ कम करो और प्रजा के पालन-पोषण का, रक्षण और शिक्षण का कार्य तुम्हीं सँभालो। मेरे मंत्रिवर्ग तुम्हें हार्दिक सहयोग देंगे। ये अनुभवी हैं, वयोवृद्ध हैं और राजनीति मे पारंगत हैं। इनका सदा सन्मान करना और कदाचित् भूल करने पर भी इन्हें क्षमा करना। बेटा! यह स्मरण रखना कि

राजा और प्रजा का संबंध पिता-पुत्र के समान होता है। राजा केवल ऐश्वर्य भोग या प्रजा पर शासन करने के लिए नही है किन्तु वह प्रजा का पिता है, पहरेदार है, सेवक है और सब कुछ है। राजा के हाथ में न्याय की तुला होती है। न्याय की मर्यादा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है। जैसे परिवार का मुखिया अपने परिवार में किसी को दुखी नही देख सकता उसी प्रकार आदर्श राजा अपने राज्य-परिवार में प्रजा को दुःखी देखकर निश्चिन्त नहीं रह सकता। प्रजा, राजा के लिये नही वरन् राजा प्रजा के लिए होता है। प्रजा के कल्याण के लिए राजा को अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़े तो वह भी अपना कर्त्तव्य समझ कर प्रसन्नता से करना चाहिए।

वत्स! अपने शत्रुओं के साथ भी न्यायपूर्ण व्यवहार करना। न्याय-नीति के लिए शस्त्र ग्रहण करने की आवश्यकता होने पर कायरता दिखलाना जैसे राजा के लिए कलंक की बात है उसी प्रकार निहत्थों पर शस्त्र उठाना, अधर्म युद्ध करना, छल से किसी की हत्या करना भी राजा के लिए कलंक है। अपने देश की रक्षा करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहना। मातृभूमि का अपमान सहन करने से पहले मर मिटना अपना कर्तव्य समझना। सदाचारी सत्पुरुषों की सँगति करना। सातों कुव्यसनों से सदैव अपनी रक्षा करना। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों मे जो बड़ी हों उन्हें माताके समान, जो बराबर हों उन्हें भगिनी के समान, और जो कम आयु की हो उन्हें पुत्री के समान समझना। मेरी इन अन्तिम बातों को सदा स्मरण रखोगे और इनका पालन करोगे तो; बेटा! तुम यशस्वी और तेजस्वी शासक बनोगे और अपने कुटुम्ब की परम्परागत निर्मल कीर्ति और मर्यादा को अक्षुण्ण

रखोगे। अधिक क्या कहूं तुम स्वयं विद्वान् और विवेकवान् हो।

इस प्रकार उपयोगी शिक्षा देकर राजा विद्युतवेग ने युवराज करणवेग के कंधो पर समस्त राज्य भार रखदिया। युवराज की अनुमति लेकर उसने भी श्रुतसागर मुनि के पास जिनदीक्षा धारण करली। राजा विद्युतवेग अब कंचन-कामिनी के त्यागी, ब्रह्मचारी मुनिविद्युतवेग के नाम से प्रख्यात हुए। दीक्षा लेते ही उन्होने उग्र तप आरम्भ कर दिया। उग्र तपस्या के द्वारा उन्होने समस्त कर्मों का अन्त कर मोक्ष-धाम की ओर प्रयाण किया। वे सदा के लिए सांसारिक बन्धनो पर विजय प्राप्त कर सिद्ध बुद्ध हो गये।

राजा करणवेग न्याय-नीति के साथ राज्य करने लगा। उस के सुशासन मे प्रजा अत्यन्त संतुष्ट, सुखी और समृद्ध है। राजा शक्तिशाली अवश्य है पर उसकी शक्ति अन्याय के प्रतीकार मे, दीन-हीनो की रक्षा में, स्वदेश की सेवा मे लगाती है, दूसरो को हानि पहुँचाने मे नही। राजा दानी है पर प्रशंसा से कोसो दूर रहता है। वह क्षमाशील है, कायर नहीं है। उदार है, उड़ाऊ नही। वह सबकी सुनता है पर कान का कच्चा नही है। वह विद्वान् है पर दूसरों का अपमान नहीं करता। वह प्रजा के लिए प्राणोत्सर्ग करने को तैयार रहता है और प्रजा भी उसके पसीने के स्थान पर अपना रक्त बहाने को उद्यत रहती है।

करणवेग की पत्नी उसके अनुरूप है। राजा जैसा धर्मनिष्ठ है, रानी भी वैसी ही धर्मशीला है। अनुरूप पत्नी की प्राप्ति पुण्य के उदय से होती है। अन्यथा पति-पत्नी की प्रकृति मे प्रतिकूलता होने से दोनों का जीवन अशान्तिमय, क्लेशकर और भार रूप हो जाता है। पति एक ओर जाता है तो पत्नी दूसरी ओर जाती है। ऐसा होने से गृहस्थी की गाड़ी ठीक तरह नहीं चल सकती।

इसके लिए दोनों पहिये बराबर हों तभी काम चल सकता है। जहां पत्नी और पति में सदा मतभेद और क्लेश रहता है वहां संतान भी असहिष्णु, चिड़चिड़ी, लड़ाकू और दुर्गुणी होती है। उस घर से लक्ष्मी भी रूठ कर जाती है। अतः दम्पति में परस्पर मतैक्य, सहिष्णुता, सद्भाव और पवित्र प्रणय का होना आवश्यक है। महाराज करणवेग को ऐसी गुणवती पत्नी प्राप्त हुई कि उनका जीवन आनंद और शान्ति के साथ व्यतीत होने लगा। दोनो मे क्लेश और कदाग्रह का कभी अवसर न आता था। एक-दूसरे को देख-देख कर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। पद्मश्री सचमुच पद्मश्री थी। खिले हुए कमल की शोभा के समान उसके मुख-मण्डल पर सदा श्री का विलास होता रहता था।

कुछ दिनों बाद महारानी पद्मश्री की कोंख से एक पुत्ररत्न ने जन्म ग्रहण किया। उसका नाम धरणवेग रक्खा गया। इसके लालन-पालन के लिये भी धात्रीकार्य में कुशल धाय नियुक्त की गई। बालक क्रमशः बढ़ने लगा और अपनी वृद्धि के साथ ही साथ अपने माता-पिता के हर्ष की भी वृद्धि करने लगा।

उन्हीं दिनो श्रीविनयाचार्य, धर्मप्रचार की पवित्रतम भावना से प्रेरित होकर यत्र-तत्र विहार करते हुए, जगत् के संतप्त प्राणियों को अक्षय सुख का मार्ग दिखलाते हुए विचरते थे। आचार्य महाराज एक दिन राजा करणवेग की राजधानी तिलकपुरीके उद्यानमे पधारे। उद्यानपाल ने आचार्य के शुभागमन का संवाद राजा के पास पहुँचाया। यह संवाद पा राजा के हृदय की कली-कली खिल गई। वह शीघ्र ही आचार्य महाराज की सेवा मे उपस्थित हुआ। यथाविधि वन्दना-नमस्कार करके यथास्थान बैठा और आचार्य से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! आपको कष्ट न

हो तो अपने पुण्य उपदेश से इस सेवक को कृतार्थ कीजिए। चिरकाल से आपके सुधासिक्त सदुपदेश के लिए लालायित हूँ। धन्य भाग्य हैं जो आज आपका संयोग पाया'। श्री विनयाचार्य ने राजा की प्रार्थना अंगीकार करके उपदेश देना आरंभ किया। वे बोले—

संसार अनादि और अनन्त है। जीव भी अनादि-निधन है। जीव की न कभी उत्पत्ति होती है न विनाश होता है। केवल पर्यायों मे परिवर्तन होता रहता है। जीव एक शरीर को ग्रहण करता, उसे त्यागता और फिर नवीन शरीर को ग्रहण करता है। यह क्रम सदा से चला आ रहा है और जब तक सिद्धि प्राप्त नही होती तब तक चलता रहेगा। एक शरीर अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक स्थिर रह सकता है, यों इसका कोई ठिकाना नहीं। जन्म-मरण की विविध वेदनाएँ इसने अनन्त बार भुगती हैं, भुगत रहा है। देव मर कर पशु हो जाता है और पशु मरकर देवता बन जाता है। इस प्रकार जीव ने पृथ्वी, जल आदि एकेन्द्रिय रूप मे, लट आदि द्वीन्द्रिय रूप में, चिऊँटी-कीड़ी आदि त्रीन्द्रिय रूप मे भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय रूप में, और पक्षी पशु आदि पंचेन्द्रिय रूप मे अनगिनती बार जन्म धारण किया है। भटकते-भटकते प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है। यह मानव-तन आत्मा को परमात्मा, नर को नारायण बनाने मे सहायक हो सकता है। पर जो जीव इस दुर्लभ अवसर को पाकर विषयभोगों मे गृद्ध रहते है वे चिन्तामणि रत्न को काच की कीमत पर बेच कर अपनी घोर मूढ़ता का परिचय देते है। असीम सागर मे डूबता हुआ कोई मनुष्य यदि जहाज को छोड़कर पत्थर की शिला पर आरूढ़ होने की

इच्छा करे तो वह विवेकी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संसार-सागर में डूबने वाला प्राणी धर्म-सेवन का परित्याग कर विषयोपभोग में रत होता है तो वह भी विचारवान् नही कहला सकता। कोई चिन्तामणि पाकर कौवे उड़ाने के लिए उसे फैकदे तो आश्चर्य की बात है। हे भद्र, इस पौद्गलिक, विषमय और क्षणिक सुख के मोह में पड़कर मोक्ष के असीम और शाश्वत सुख को खो बैठना कौन-सी बुद्धिमानी है? देखो—

जहा कांगणि हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपच्छं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए॥

—निर्ग्रन्थ-प्रवचन

अर्थात् कुछ व्यापारी व्यापार के लिये विदेश गये। वे सब हजार-हजार मुहरे कमा कर घर की तरफ लौटे। लौटते समय मार्ग में उन्होने किसी जगह भोजन-सामग्री खरीद कर भोजन बनाया। भोजन करने के पश्चात् एक व्यापारी ने दाल-आटे का हिसाब लगाया। उसे मालूम हुआ कि दूकानदार ने एक दमड़ी कम लौटाई है। वह अपने साथियों से बोला—'भाइयो, जरा ठहरिये। दूकानदार ने हम लोगों को ठग लिया है, एक दमड़ी कम लौटाई है।' उसकी बात सुन साथी बोले— 'अरे दमड़ी में क्या धरा है? एक दमड़ी चली जाने से हम कंगाल तो हो न जाएँगे! वह भी एक दमड़ी से लखपति न बन जाएगा। इतने के लिए अपना समय क्यों गँवाएँ?' पहला व्यापारी कहने लगा— 'भाई वाह, तुम भी कैसे वणिक् हो? 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय' यह तो वणिक्-शास्त्र का आदर्श-वाक्य है। इसे भूल जाओगे तो काम कैसे चलेगा? मै तो हर्गिज़ दमड़ी न जाने दूँगा।'

इतना कह कर वह दूकानदार के पास चला गया। उसके साथियों ने देखा कि यह लोभी व्यर्थ समय नष्ट कर रहा है तो वे अपने रास्ते लगे।

लोभी दूकानदार के पास पहुँचा। आटा-दाल का बारीकी से हिसाब लगाया और दमड़ी वापस मांगी। दूकानदार ने जब दमडी लौटादी तो वह बड़ी प्रसन्नताके साथ—जैसे कोई खजाना मिल गया हो—अपने साथियों की ओर चला। साथी आगे निकल गये थे। रास्ता जंगल का था। सोचा जल्दी-जल्दी पैर उठा कर उन्हें पकड़ लूंगा। वह अकेला साथियों के मिल जाने के बल पर जंगल मे चल पड़ा। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चला त्यों त्यों जंगल अधिक बीहड, भयंकर, सुनसान और सघन वृक्षों से आच्छादित आने लगा। अकेला वणिक मारे भय के कांप रहा था। श्वास फूल रहा था। प्राणों के साथ-साथ मोहरों का मोह कम न था। चल क्या रहा था—मानों भागा जाता था। दैववश लुटेरों का एक गिरोह बटोहियों की ताक मे बैठा हुआ था। अकेला मालदार वणिक् पाकर उन्होने उसे आसानी से लूट लिया। वणिक् रोता-पछताता जान बचाकर घर की ओर भागा। तात्पर्य यह है कि एक दमड़ी के लिये लुब्ध वणिक् ने गांठ की हजार मोहरें गंवादीं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो इस वणिक् की लालसा पर हँस न दे? पर सच यह है कि समस्त विषयी प्राणी इस वणिक् की कोटि के है। जो लोग क्षणिक विषय-सुख रूपी दमड़ी के लिए मुक्ति के निरतिशय आनंदरूपी मुद्राओं को गँवा रहे है वे क्या उस वणिक् से अधिक विवेकशील हैं? और सुनो—

एक राजा को असाध्य रोग हो गया। राजा को चिकित्सकों

और औषधियों की क्या कमी ? बड़े-बड़े वैद्य आये । मूल्यवान् औषधियां की गईं पर कोई भी कारगर न हुई । एक बार एक आयुर्वेद-विशारद प्रसिद्ध वैद्य ने ध्यानपूर्वक राजा की नाड़ी देखी तब कुछ सोचकर वह बोला— 'महाराज ! कुछ दिनों तक मैं आपको औषधि दूँगा । आप उसका यथाविधि सेवन कीजिए । राजा ने वैसा ही किया । थोड़े ही दिनों बाद वह स्वस्थ हो गया । वैद्य ने कहा—'महाराज, अब यह रोग आपको कभी न होगा । मगर एक पथ्य आप सदा पालन कीजिए–आम कभी न खाइए' राजा बोला—'वैद्यराज, आम खाने की तो बात ही क्या है, मैं कभी आम की छाया तक में न बैठूंगा ।' फाल्गुन महीने की यह बात थी । साढ़े तीन महीने बीत गये ।

एक बार राजा अपने मंत्री के साथ घूमने-घामने के लिये निकला । धूप कड़ी पड़ रही थी । आसमान से सूर्य आग बरसा रहा था और नीचे ज़मीन तवे की तरह तप रही थी । राजा ने मंत्री से कहा—'मंत्री जी ! धूप और गर्मी के मारे प्राण निकले जा रहे हैं । आसपास किसी सघन वृक्ष की शीतल छाया में चल कर विश्राम करें ।' मंत्री ने दूर तक दृष्टि दौड़ाई पर एक आम्र-वृक्ष के अतिरिक्त और कोई वृक्ष दिखाई न दिया । मंत्री ने कहा—'महाराज, आसपास में तो विश्राम करने योग्य कोई वृक्ष नज़र नहीं आता ।'

राजा—क्या गर्मी के कारण तुम्हारी आंखें जवाब दे गईं ? देखो, वह क्या एक सघन वृक्ष दिखलाई दे रहा है ?

मंत्री—जी नहीं, वह तो मैंने भी देखा है पर वह विश्राम करने योग्य नहीं है । वह आम का वृक्ष है, आप उसके नीचे तो बैठेंगे नहीं ।

राजा—मंत्री, वैद्य ने केवल आम्र-फल खाने का निषेध किया है। उसकी छाया में न बैठने की विशेषता तो पथ्य-पालन की दृढ़ता को सूचित करने के उद्देश्य से मैंने अपनी ओर से जोड़ दी थी। वास्तव में उसकी छाया के नीचे बैठ जाने मे कोई हानि नहीं है।

राजा का उत्तर सुन मंत्री चुप हो गया। दोनों आम की ओर बढ़े और उसी पेड़ के नीचे विश्रान्ति करने लगे। उन्हें आये थोड़ा ही समय हुआ था कि एक सुन्दर सुपक्व आम्रफल राजा के सामने कुछ दूरी पर आ गिरा। राजा ने कहा—मंत्री जी, मुझे भली भांति पता है कि आम खाना मेरे लिए अपथ्य है। वह मुझे पुनः संकट में डाल देगा। परन्तु उसे देखना और सूंघना तो निषिद्ध नहीं है। लाओ जरा इस आम को देखूं-सूंघूं।

राजा की आज्ञा भला कौन टाले? मंत्री चुपचाप उठा, आम लाया और राजा को पकड़ा दिया। राजा ने आम सूंघा तो मुँह मे पानी आगया। मंत्री से कहा इसके ऊपर के छिलके उतारो। मत्री ने छिलके उतार दिये। राजा ने कहा—फांके करो। मंत्री ने फांके करदी। राजा बोला—फांके मेरे हाथ पर रखदो। मंत्री ने हाथ पर रखदी। तब राजा ने तर्क का उपयोग किया। कहा देखो मत्री, वैद्य का आशय यह था कि आम को पेट मे न उतरने देना चाहिए। मैं इन फांकों को मुँह मे रखकर मल-मलाकर थूक दूंगा। पेट मे न उतरने दूँगा। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। चिंता तो मुझे अपनी है ही। इतना कहकर राजा ने आम की फांकें मुँह मे रखली। फिर क्या था? लोलुप जिह्वा मधुर आम्र के स्वाद को कैसे छोड़ती? वह जिह्वा का गुलाम राजा अन्त मे आम को निगल ही गया। आम खाते ही वैद्य के

कथनानुसार फिर वही भीषण रोग उत्पन्न होगया। अब की उस रोग का अन्त तब हुआ जब राजा के प्राण-पखेरू उड़ गये।

आम की दो-चार फाँकों के समान मधुर प्रतीत होने वाले संसार के जघन्य और तुच्छ विषय-भोगों में फँस कर संसारी जीव मोक्ष के सुखों से वंचित हो जाते हैं। इसलिए राजन्! इस अनमोल अवसर को हाथ से न जाने दीजिए। समय रहते अपनी आत्मा के लोकोत्तर कल्याण के लिए प्रयत्न कीजिए। साधु-धर्म को धारण कीजिये और यदि इतना सामर्थ्य या साहस न हो तो श्रावकधर्म को तो अंगीकार अवश्य कीजिए। दोनों में से एक को ग्रहण करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है, क्योंकि धर्म ही मनुष्य का सच्चा सखा और सहायक है। मृत्यु अवश्यंभावी है और मृत्यु के पश्चात् धर्म ही साथ देगा। तुम्हारा यह विशाल साम्राज्य स्नेही स्वजन और धन से परिपूर्ण खजाना—सब कुछ यहीं रह जायगा। अतः दीर्घ दृष्टि से विचार करो और भविष्य का साथी खोजलो।"

आचार्य महाराज के इस भावपूर्ण एवं गंभीर उपदेश का प्रभाव राजा पर भी हुआ और अन्य श्रोताओं पर भी। अनेक श्रोताओं ने श्रावक के व्रत अंगीकार किये। राजा करणवेग संसार से पूर्ण विरक्त हो गया। उसे इस निस्सार संसार का असली स्वरूप दिखाई देने लगा। वह बोला—'भंते! आपके पावन उपदेश रूपी अमृत-अंजन से मेरे नेत्र खुल गये हैं। अब तक मुझे वह निर्मल दृष्टि प्राप्त न थी। मेरे समक्ष अब यह संसार ही जैसे बदल गया है। मुझे यह बड़ा रौद्र प्रतीत होता है। मैं साधु-धर्म को स्वीकार कर आपके चरण-कमलों का आश्रय लेना चाहता हूँ।'

राजा करणवेग घर लौट आया और अपने पुत्र युवराज धरणवेग को राज-काज सौंप कर, यथायोग्य शिक्षा देकर, प्रजा से विदाई लेकर पुनः आचार्य श्री की सेवा मे आ उपस्थित हुआ। मुँह पर मुँहपत्ती बांधी। चोलपट्ट पहना। चादर ओढी। कांख में रजोहरण दबाया। हाथ मे पात्रों की झोली लेली। इस प्रकार साधु वेष धारण कर के गुरुदेव को यथाविधि वन्दना की, नमस्कार किया। गुरुदेव ने आजन्म पंच महाव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा कराई और दीक्षित कर लिया। दीक्षित होने के अनन्तर मुनि करणवेग गुरु-सेवा में तन्मय हो गये। विनयपूर्वक ज्ञान सम्पादन किया। फिर कर्म-रिपुओं का संहार करने के लिए तपस्या की तलवार सँभाली। पारणे के दिन कठिन अभिग्रह करते रहे। इस प्रकार उग्रतर तपस्या करने के कारण करणवेग मुनि का शरीर कृश हो गया।

एक बार करणवेग मुनि अपनी लब्धि के बल से विचरते हुए उसी भयंकर वन मे स्थित हेमगिरि पर्वत पर जा पहुंचे, जहां कमठ का जीव मर कर कुर्कट जाति के भयंकर विषैले सांप के रूप मे उत्पात मचा रहा था। उसका विष इतना उग्र था कि उसकी फुकार से ही आस पास की घास और वृक्ष सूख गये थे। उसी जंगल मे पहुँच कर करणवेग मुनि (भावी पार्श्वनाथ) ने कायोत्सर्ग किया। वे निश्चल शरीर और निश्चल मन से ध्यान मे मग्न हो गये। वह सॉप वहां आया और सरसराता हुआ मुनि के शरीर पर चढ़कर उससे लिपट गया। फिर ऐसे जोर से डंक मारा कि मुनि का समस्त शरीर विष से व्याप्त हो गया। किन्तु प्रथम तो मुनि ध्यान-मग्न थे, फिर प्राणान्तक उपसर्ग आ गया। अतः उन्होंने आत्म-ध्यान से तनिक भी विचलित न होते

हुए समता भाव स्थिर रक्खा। अन्त में प्राणीमात्र से हर्दिक क्षमाप्रार्थना की और समता भाव में ही देह त्याग दिया।

पाँचवां जन्म

देहावसान के अनन्तर वे बारहवे देवलोक मे २२ सागरोपम की आयु के धारक देव हुए।

मरुभूति का जीव जब हाथी के भव मे था तब कमठ का जीव सर्प हुआ था। मरुभूति का हाथी पर्याय वाला जीव सहस्रार स्वर्ग में १७ सागरोपम की आयुवाला देव हुआ और वहां से च्युत होकर करणवेग हुआ। इसके बाद फिर सर्प ने उसे काटा और वह अब की बार बारहवे देवलोक मे देव हुआ। इस वृत्तान्त से पाठकों को यह संशय हो सकता है कि सर्प तब तक क्या सर्प ही बना रहा ? सर्पकी आयु इतनी नही होती है फिर उसने मुनि करणवेग को कैसे काटा ? इसका समाधान यह है कि पहला कुर्कट जाति का सर्प मर कर पांचवें नरक मे उत्पन्न हुआ था, यह पहले कहा जा चुका है, पांचवें नरक की स्थिति भी सत्तरह सागर की है अतः सहस्रार स्वर्ग की सत्तरह सागर की आयु भोगकर हाथी का जीव जब करणवेग हुआ लगभग उसी समय पांचवे नरक की सत्तरह सागर की आयु समाप्त कर कमठ का जीव फिर दूसरी बार उसी जगह और उसी जाति का विषैला सर्प हुआ। अतः यह न समझना चाहिए कि सर्प एक ही पर्याय मे इतने समय तक बना रहा।

कुर्कट सर्प अब की बार मर कर छठे नरक मे गया। नरक की वेदनाओं के विषय मे पहले किञ्चित् दिग्दर्शन कराया गया

है। सच है—किये हुए कर्मों से भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। जिसने जैसे कर्मों का उपार्जन किया है वह वैसे ही फल भी पाता है। जैसे नीम बोने पर आम नहीं मिलते उसी प्रकार पाप कर्म करके सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः जो सुख की अभिलाषा रखते हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं उन्हें अपने कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देना चाहिए तथा पापजनक कार्यों का परित्याग कर पुण्य-जनक कार्यों को अपनाना चाहिए। यदि तुम सुख चाहते हो तो दूसरों को सुख उपजाओ। सुखी बनने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कुर्कट सर्प ने न जाने कितने प्राणियों के प्राण हरण किये, न जाने कितनों को त्रास दिया और भयभीत किया। उसका फल उसे भोगना पड़ा। वह छठे नरक में नारकी रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे भूख-प्यास की, क्षेत्र-जन्य और नारकी जन्य घोर से घोर वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। दूसरी ओर मरुभूति के जीव को देखिये। वह क्रमशः अधिकाधिक सुखों का भोक्ता बनता जा रहा है, क्योंकि उसकी धर्माराधना भी क्रमशः बढ़ती जाती है।

छठा जन्म

मरुभूति का जीव बाईस सागर की आयु समाप्त कर स्वर्ग से च्युत हुआ और विश्वपुर के राजा वज्रवीर्य की रानी की कुक्षि में अवतरित हुआ। रानी ने शुभ स्वप्न देखे। नव महीने और साढ़े सात दिन के पश्चात राजकुमार का जन्म हुआ। राजा और परिवार की प्रसन्नता का पारावार न रहा। पुत्र जन्म के हर्ष के उपलक्ष्य में अनेक लोकोपकारी संस्थाओं का उद्घाटन किया

गया। बारहवें दिन अशुचि कर्म से निवृत्त होने पर पुत्र का नाम 'वज्रनाभ' रखा गया। वज्रनाभ का शैशवकाल अत्यन्त स्नेह और लाड़-प्यार से बीता। यथासमय कला-आचार्य से उसने अस्त्र-शस्त्र और शास्त्रों का अध्ययन किया और उनमें पूर्ण निपुणता प्राप्त की। यौवन-अवस्था में बंग देश के राजा चन्द्रकान्त की सुन्दरी और सुलक्षणा कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार हो गया। वज्रनाभ आमोद-प्रमोद के साथ सॉसारिक सुखों का आस्वादन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

एक बार वज्रनाभ के मामा का पुत्र कुबेर अपने घर से रुष्ट होकर वज्रनाभ के पास आया। कुबेर कट्टर नास्तिक था। वह कभी-कभी अवसर पाकर वज्रनाभ के सामने जैनधर्म की निन्दा करने लगा। वज्रनाभ गंभीर प्रकृति का था। कुबेर अपने घर से रुष्ट होकर आया था और उसे सान्त्वना की आवश्यकता थी। सम्भवतः इस कारण अथवा उचित समयकी प्रतिक्षा करनेके कारण वज्रनाभ ने मौन रहना ही उचित समझा। उसने विचार किया किन्ही मुनिराज के आने पर कुबेर की सब शंकाओं का समाधान हो जायगा। यद्यपि वज्रनाभ कुबेर की शंकाओ का निरसन करने मे समर्थ था फिर भी मुनिराज से समाधान कराने का उसने विचार किया। इसका एक प्रबल कारण और भी था। चारित्र-हीन ज्ञान न तो इतना ठोस होता है न उसमे दूसरो पर प्रभाव डालने का विशिष्ट सामर्थ्य ही। चारित्र स्वयं एक अमोघ शक्ति है और वह ज्ञान को भी सामर्थ्य-सम्पन्न बनाता है। यही कारण है कि ज्ञान का फल चारित्र कहा गया है। जब तक चारित्र नही होता तब तक ज्ञान को अपूर्ण और अफल माना गया है। वज्रनाभ ने चारित्र की इस महत्ता को समझकर कुछ समय और

टाल देना ही उचित समझा।

संयोगवश कुछ ही दिनों में लोकचन्द्र नामक एक ज्ञान और चारित्र के धारी मुनिराज अपने शिष्य-वृन्द के साथ विचरते हुए उधर आ निकले। वे नगर से बाहर एक उद्यान मे ठहरे। मुनिराज के शुभागमन का वृत्तान्त जब नगर मे पहुँचा तो जनता की टोलियां की टोलियां मुनिराज के पावन दर्शन और हितकारी सदुपदेश को श्रवण करने के निमित्त उमड़ पड़ी। महाराज वज्रवीर्य भी युवराज वज्रनाभ और कुबेर को साथ लेकर मुनिराज की शरण मे पहुँचे। सब लोग यथाविधि वन्दन-नमन कर यथास्थान बैठ गये। मुनि महाराज ने उपदेश देना आरंभ किया। बोले—

भव्यो, आत्मा स्वभाव से सिद्ध, बुद्ध और ज्ञानादि गुणो से समृद्ध है, किन्तु इसकी परिणति विभाव रूप हो रही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन आठ कर्मों के कारण बंधन मे बँधा हुआ यह आत्मा, संसार मे अर्थात् नाना योनियो मे जन्म-मरण के तथा अन्यान्य प्रकार के घोर कष्ट सहन कर रहा है। रंक हो या राजा, सधन हो या निर्धन, सबल हो या निर्बल, कुलीन हो या अकुलीन, सभी को समान रूप से कर्म, पीड़ा पहुँचाते है। इनका शासन निष्कंटक है, कोई उसका अपवाद नहीं है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। परन्तु दृष्टि विकृत होनेके कारण प्रयत्न विपरीत करता है। सांसारिक पदार्थों मे सुख की गवेषणा करने से परिणाम मे दुःख ही प्राप्त होता है। सच्चा सुख तो आत्मा मे ही विद्यमान है। सुख, आत्मा का ही एक अस्तित्व रूप गुण है। अत वह आत्मा को छोड़ कर अन्यत्र नही रह सकता। अतएव सच्चे सुख के

अभिलाषी को आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहिए। मोह आदि विकार ज्यों-ज्यों शान्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों कर्मों की शक्ति का ह्रास होता जाता है और ज्यों-ज्यों कर्मों की शक्ति क्षीण होती है, त्यों-त्यों आत्मिक आनन्द का अविर्भाव होता जाता है। अन्त मे आत्मा जब अपनी साधना द्वारा सर्वथा वीतराग और निष्कर्म होता है, तो अनन्त सुख का सागर उमड़ पड़ता है। ज्ञानी जनों ने स्वयं यह साधना की है, और उसका उपदेश भी दिया है। साधना के विकासक्रम को भी उन्होंने सर्वविरति और देश-विरति विकल्पों द्वारा समझाया है। भव्य जीवो ! आप लोग अनादिकाल से इस मोह के प्रपंच में फँसे हैं। अब आपको इस प्रपंच से निकलने की पूर्ण सामग्री प्राप्त है। अतः ऐसा प्रयत्न करो, कि शाश्वत सुख की प्राप्ति हो।

मुनिराज का उपदेश सुनकर, लोग अत्यन्त आनंदित हुए। कुबेर यह उपदेश सुन रहा था। वह कहने लगा—वृथा समय बर्बाद हुआ। मुनिजी ने जो कुछ भी कहा, सब मिथ्या है, कल्पना मात्र है। मुनिजी का सारा उपदेश, आत्मा को केन्द्र बना कर चला है। पर वास्तव मे आत्मा कुछ है ही नही। होता तो घट-पट आदि पदार्थों की भांति वह इन्द्रियगोचर क्यों न होता ? कभी किसी ने आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं किया। फिर कैसे उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाय ? यह जो पुतला दिखाई दे रहा है, सो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पाच भूतो के संयोग से बना है। मरने पर पांचों भूत अपनी-अपनी जाति मे मिल जाते है, और सारा खेल खतम हो जाता है। न कहीं पर-लोक है, न परलोक मे जाने वाला कोई पदार्थ ही है। ऐसी अवस्था में दान-पुण्य, धर्म-कर्म, जप-तप आदि क्रियाएँ केवल

ज्ञान नष्ट होजाते हैं! इससे यह भली भाँति प्रमाणित है कि आत्मा कर्मों के बंधन मे पडकर मूर्त्त हो रहा है और वही पुण्य-पाप का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है। आगम मे कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन।

अर्थात्—आत्मा ही पापो को करने वाली और उनसे मुक्त होने वाली है। वही सुख-दु:ख उत्पन्न करती है। आत्मा स्वमेव अपना मित्र है और स्वमेव अपना शत्रु है। आत्मा अपने ही कार्यों से यशस्वी या अयशस्वी बनता है।

भाई कुबेर, तुम कहते हो अच्छे बुरे कार्यों का फल नही होता। परन्तु थोड़ी-सी सावधानी से विचार करो इस संसार मे कर्म फल के शतश उदाहरण तुम्हें देखने को मिलेंगे। एक व्यक्ति पालकी मे ठाठ से बैठता है और दूसरा पालकी को कंधो पर रख कर उठाता है। एक व्यक्ति सुन्दर स्वादिष्ट और बहुमूल्य भोजन खाते२ उकता जाता है और दूसरे को रूखी सूखी रोटी के दो टुकड़े भी नसीब नहीं होते। एक के पास अनेक गगन-चुम्बी विशाल प्रासाद हैं दूसरा किसी वृक्ष के नीचे अपना डेरा-डडा जमाए है। एक कड़ाकेकी धूप मे खसखसकी टट्टियों मे बैठा है दूसरा तवे के समान तपी हुई पृथ्वी पर नंगे पैर और नगे शरीर खेत मे हल चला रहा है। इन दोनों मे इतना अन्तर क्यो है? दरिद्रही अधिक पुरुषार्थ करता है फिर भी वही क्यो अधिक दरिद्र रहता है? एक ही माता-पिता के दो पुत्रो मे, जिनका समान रूप से लालन पालन और शिक्षण हुआ है तथा जो समान वातावरण

मे रहकर बड़े हुए है, कभी-कभी जो महान् अन्तर दिखाई पड़ता है उसका कारण पूर्व अदृष्ट के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? तभी तो कहा है—

रङ्कं करोति राजानं, राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनञ्चैव, निर्धनं धनिनं विधिः॥

कुबेर, तुम अपने पूर्व-उपार्जित पुण्य के परिपाक से राजघराने मे उत्पन्न हुए हो। उसी पुण्य के फल से राजसी वैभव का उपभोग कर रहे हो। यदि पहले की यह कमाई न होती तो इस जन्म में तुमने कितना पुरुषार्थ किया है जो इस वैभव को प्राप्त कर सके? तुम्हारे हुक्म बजाने वाले इस किंकर को यह वैभव क्यों न प्राप्त हुआ? क्या यह तुमसे भी कम श्रम करता है? अब तुम भली भाँति समझ सकते हो कि आत्मा है, परलोक है, पुण्य पाप है, उनका फल है।"

मुनिराज के इस प्रमाणपूर्ण और तर्कसंगत उपदेश को सुन कर कुबेर का कायापलट हो गया। अब तक उसके हृदय मे जो भ्रान्ति घुसी थी वह सहसा छिन्न-भिन्न हो गई। सूर्य का उदय होने पर जैसे अंधकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार मुनिराज के वचनों से उसका अज्ञान तिरोहित हो गया। उसके हृदय मे सत्य धर्म के अंकुर उत्पन्न हो गये। मुनिराज के प्रति उसके अन्तःकरणमे असीम श्रद्धाका अविर्भाव हुआ। वह हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर बोला—भगवन्! आपका भवभय-भंजक उपदेश सुनकर मै कृतकृत्य हुआ। मैने अज्ञान और कुसंस्कारके आधीन होकर जो अविनयपूर्ण व्यवहार किया है। उसके लिये हृदय से क्षमा याचना करता हूँ। आप क्षमा के सागर है। शत्रुओं पर भी आपके अन्तःकरण रुप आकाश से क्षमा-जल की वर्षा होती

तीव्र ज्वाला धधक उठी। उसने मुनिराज को लक्ष्य बनाकर एक तीखासा तीर छोड़ा और मुनिराज के शरीर का अंत हो गया।

पाठकों को विदित होगा कि यह भील कमठ का ही जीव है जिसने पहले अपने लघु भ्राता मरुभूति के प्राणों का संहार किया था और मुनि मरुभूति के जीव है। जब मुनि के शरीर मे भील का छोडा हुआ पैना तीर लगा तब भी मुनिराज को उस पर द्वेष न हुआ। उन्होंने सोचा—"किसी भव मे मैंने इसका अनिष्ट किया होगा। वह ऋण मेरे ऊपर चढ़ा था। आज वह पट गया यह अच्छा ही हुआ है। जितना बोझा कम हुआ वही गनीमत है। जो व्यक्ति किसी को ऋण देता है वह कभी न कभी लेने के लिए आता ही है। उस पर क्रोध करना या रो-रो कर ऋण चुकाना बुद्धिमत्ता नही है। ऐसा करना कायरों का काम है। फिर इसने मेरा बिगाड़ा ही क्या है? मै तो अजर-अमर अविनाशी हू। सच्चिदानन्द रूप हू। मेरा-मेरी आत्मा का कभी विनाश नहीं हो सकता। यदि कभी तीनो लोक उलट जाएँ, मेरु पर्वत भी चूर२ हो जाय, पृथ्वी पिघल कर पानी बन जाय, तो भी आत्मा मर नहीं सकता। करोडों इन्द्र आकर के भी आत्मा का विनाश नही कर सकते। बेचारा कर्मों का मारा हुआ यह भील मेरा क्या बिगाड़ सकता है। इसके प्रयत्न से भले ही मै इस शरीर को त्याग दूंगा पर शरीरों की क्या कमी है? अनादि काल से शरीर मिलते ही रहते है और फिर भी मिल जायगा। जीव जहां जाता है वहीं शरीर पाता है। इस जर्जरित देह का वियोग होने पर नया देह मिलेगा। इसमे मेरा क्या बिगड़ता है? बल्कि मै तो स्वयं अशरीर बनने के लिए साधना कर रहा हूं। जब सब शरीरों का अन्त हो जायगा तो मै धन्य और कृतकृत्य हो जाऊंगा सैकड़ों

स्वयं घायल होकर स्त्रियों के दास बने फिरते हैं, वे अखंड ब्रह्मचर्य का मार्ग कैसे दिखा सकते हैं ? जो स्वयं भयभीत हैं, और भय के मारे गदा, त्रिशूल, चक्र आदि हथियार बाँधे फिरते हैं, वे भक्तों को निर्भयता कैसे सिखाएँगे ? जो अपने शत्रुओं का संहार करने के लिए, मोक्ष में से भागे आते कहे जाते हैं, वे दया, क्षमा और मध्यस्थता की सीख किस मुँह से दे सकेंगे ? अतएव ऐसे देव, मुमुक्षु जीव के आदर्श नहीं हो सकते !

अठारह दोषों पर, जिन्होंने पूर्ण रूप से अंतिम विजय प्राप्त करली है, अतएव जो पूर्ण वीतराग हैं, पूर्ण सर्वज्ञ हैं, पूर्ण हितकर हैं, अनंत आत्मिक सुख के सागर हैं, चौंतीस अतिशय और पैंतीस व्याख्यान-वाणी सहित हैं, जिन्होंने कामना मात्र को दबा दिया है, निष्काम भाव से जो जगत् को सुख का सन्मार्ग बतलाते हैं, वही सच्चे देव हैं। उनकी उपासना ही व्यक्ति को उन्हीं के समान, सच्चा देव बनाती है, और संसार के दुःखों से बचाकर अजर-अमर अविनाशी पद पर पहुँचाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा की ओर अभिमुख होता हुआ दृष्टि में एक ऐसी निर्मलता प्राप्त करता है, कि उसे तत्त्वों का मिथ्याज्ञान नहीं होता। वह तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है। यही सम्यग्ज्ञान है। यों तो ज्ञान आत्मा का गुण है, और गुण सहभावी धर्म है, अतएव वह आत्मा में सदैव विद्यमान रहता है। किन्तु उसमें पर्यायान्तर होता रहता है दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जब मिथ्यात्व का उदय होता है, तो मिथ्यात्व के संसर्ग से ज्ञान गुण विकृत हो जाता है—मिथ्या बन जाता है। जब सम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब ज्ञान का विकार भी दूर हो जाता है, और वह भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है। इस

प्रकार स्पष्ट है, कि सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। फिर भी जैसे सूर्य का उदय होने पर, प्रकाश और प्रताप एक साथ आविर्भूत होते है,उसी प्रकार मिथ्यात्व का नाश होने पर सम्यक् ज्ञान और दर्शन भी युगपद् प्रकट हो जाते है।

अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ एवं शुद्ध क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना सम्यक्-चारित्र है। इसका प्रारंभ पांचवे गुणस्थान से होता है। पहले चारित्र का किञ्चित् विवेचन किया जा चुका है।

धर्म की प्रवृत्ति उसके प्रवर्तक नेता से होती है। अतएव यह स्वाभाविक है, कि प्रवर्त्तक अपनी मनोवृत्ति के अनुसार कर्त्तव्य-धर्म का विवेचन करे। मनोवृत्ति और आचरण का घनिष्ठ संबंध है, इसलिए प्रवर्त्तक के आचरण का उसके द्वारा प्ररूपित धर्म पर गहरा प्रभाव देखा जाता है। किसी भी धर्म के अनुयायी अपने धर्म-प्रवर्त्तक के जीवन व्यवहार का अनुकरण करते है, अतः धर्मप्रवर्त्तक यदि आदर्श हो या आदर्श रूप मे अंकित किया गया हो,तब तो उसके अनुयायी भी आदर्श बनना अपना ध्येय समझ कर प्रवृत्ति करते है। और यदि धर्मप्रवर्त्तक के जीवन मे ही कोई आदर्श जैसी वस्तु न हो, तो उसके अनुयायी भी आदर्शहीन होते है। फिर वह धर्म उनका कल्याण नही कर सकता। एक बात और है। साधारण जनता उपदेश की ओर दृष्टिपात न करके उपदेशक की ओर ही देखती है। इसलिए भी धर्मप्रवर्त्तक के जीवन मे उसके उपदेश के अनुकूल तत्त्वो का विद्यमान रहना आवश्यक है। जो क्रोध की मूर्ति है, मान का मारा है, माया का पिंड है और लोभ के जाल मे फँसा हुआ है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ के परिहार का उपदेश नही दे सकता। और यदि देने की धृष्टता

करता है, तो श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड सकता। जो त्यागी है, जिसने ससार संबंधी उत्तमोत्तम भोग-विलास के सहज प्राप्त साधनो को तिनके की तरह त्याग दिया है, जिसकी वृत्ति, शत्रु-मित्र पर समान रूप से करुणा का वारि वरसाती है, जिसने कंचन और कामिनि के आकर्षण पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जो शरीर मे रहते हुए भी आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझकर, आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप मे निरन्तर रमण करता है, जिसके हृदय-वारिधि मे शम-दम-नियम यम-संयम की उत्तुग तरंगें सदैव तरंगित होती रही, और वे तरंगे अब अनन्त एवं अखंड आत्मानन्द मे विलीन हो गई है, जो अपने समस्त कृत्यो को पूर्ण करके चरम लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है, जिसकी दृष्टि से मानो अमृत के झरने वहते है, जिसके मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाला वाक्-सौरभ विश्व को व्याप्त करके आह्लादित करता है, जिसने मोह-मल्ल को पछाड़ दिया है, जिसने असीम ज्ञान-दर्शन और अनन्त शक्ति संपादन करके आत्मिक निर्मलता का अन्तिम रूप सर्वसाधारण के समक्ष रख दिया है, जो संसार मे रहता हुआ भी संसार से अतीत हो गया है, वही वीतराग पुरुषोत्तम मनुष्य-मात्र की श्रद्धा का, भक्ति का, पूजा का, श्रेष्ठ पात्र है। उसी का आदर्श सामने रखने से प्राणी भवसागर को तर सकता है। उसीके द्वारा उपदिष्ट धर्म सच्चा धर्म है और उसी के धर्म को धारण करने वाले विरक्त त्यागी जन सच्चे गुरु है। सम्यग्दृष्टि की यही विचारणा है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष उल्लिखित देव, गुरु, धर्म पर निश्चल प्रतीति रखता है। भयंकर से भयंकर यातनाएँ सहते हुए, घोर कष्ट आ पड़ने पर भी वह कभी उस श्रद्धा से अणुमात्र भी चिगता नहीं।

भय,आशा,स्नेह,लोभ आदि कोई भी आकर्षण उसे अपने निर्दिष्ट पथ से हटा नही सकता। वह दृढ़-धर्मी और प्रियधर्मी होता है। वह अपने या अपने पुत्र-पौत्र आदि स्वजनों के लिए, उन्हें रोग आदि से मुक्त करने के लिए भैरों, भवानी, चंडी मुंडी, आदि कुदेवो की ओर नजर भी नही फेकता। वह कर्मो के फल पर पूर्ण विश्वास रखता है। मिथ्यात्वियों की भांति कुदेवों के शरण मे जाकर, वहाँ बलि आदि चढ़ाकर पुण्य के बदले भयंकर पाप का उपार्जन कदापि नही करता। वह जानता है, कि जो देव स्वयं दूसरो के रक्त के प्यासे है, दूसरों के मांस के भूखे हैं, जो स्वयं जन्म और मरण की व्याधियो के शिकार है, वे किसी की मत्यु को कैसे निवारण कर सकेगे ? आयु कर्म यदि प्रबल है, तो कौन मार सकता है ? आयु कर्म यदि समाप्त हो गया है,तो कौन बचा सकता है ? साता वेदनीय का उदय है,तो कौन हमारा सुख छीन सकता है ? यदि पूर्व कृत असातावेदनीय, अपना फल देने के लिए उद्यत हुआ है, तो उसे कौन रोक सकता है ? यह इस प्रकार की पारमार्थिक विचारणा के द्वारा, वह कुदेवों का कभी आश्रय नही लेता।

वास्तव मे कुदेवो की मान्यता मनाने से, उनकी वन्दना या सेवा करने से निरोगता या पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, राज्य-वैभव आदि प्राप्त होना कठिन ही नही, बल्कि असंभव है। इसलिए निर्मल सम्यक्त्व के धारण करनेवाले धर्मात्माओ का यह कर्त्तव्य है, कि वे यश-कीर्ति, ऋद्धि-समृद्धि, धन-वैभव, आरोग्यता आदि के झूठे लालच में पड़कर,अपने सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि को खो, दीन, हीन, दुखी न बने। सच्चे और झूठे देव आदि के स्वरूप का पहले भली भाति निश्चय करे। और सत्य पर सुमेरु की तरह

अडिग विश्वास रखे। वह किसी भी प्रकार की भ्रमणा में पड़कर असत्य की ओर आकृष्ट न हो, कोई भी प्रलोभन उसे अपने सकल्प से न चिगा सके। इस प्रकार असर्वज्ञ, रागी और द्वेषी देव को, देव मानना देवमूढता है।

कामी, क्रोधी, लोभी, लालची, दंभी, विषयों मे आसक्त, त्याग का त्याग करने वाले, भोगों को भोगने वाले, इन्द्रियो के दास, कामनाओं के किंकर और संयम से हीन व्यक्तियो को, अथवा आगमोक्त वस्त्र-पात्र आदि संयम के उपयोगी साधनो को मर्यादा से अधिक रखने वाले, मुनिवेषी गुरुओ को सच्चा गुरु मानकर जो उनकी भक्ति करता है, वह पत्थर की नौका पर आरूढ होकर समुद्र पार करने की इच्छा करता है। इस प्रकार गुरु-मूढ व्यक्ति अज्ञ है, करुणापात्र है। मनुष्य की उत्तमता का आधार सद् गुणो का विकास है। जिसके सद्गुणों का जितनी मात्रा मे विकास हो गया है वह उतनी ही मात्रा मे अधिक उत्तम है। यही कारण है, कि मुनि, साधारण मनुष्यों से श्रेष्ठ माने जाते और पूजे जाते है। यदि सामान्य जन की भाति गुरु भी लोभी, लालची, कामी क्रोधी आदि हों तो दोनों मे भेद ही क्या रह जाता है? यदि कुछ भेद है, तो वह यही, कि वह गुरु और अधिक पापी है क्योंकि वह त्यागी बनकर भी त्यागी नहीं है। वह अपनी मर्यादा का लोप करता है, संसार को और अपनी आत्मा को धोखा देता है। और दूसरे के समक्ष बुरा उदाहरण उपस्थित करके दूसरो को भी अपनी भाति पतित बनाने का प्रयत्न करता है। अतः ऐसे गुरु—फिर वे चाहे जिस वेष मे हो, चाहे जहाँ रहते हो और चाहे जितना अज्ञान तप करते हों, त्याज्य है। जो रात-दिन विषयो के कीट बने रहते है, भग गाजा, चरस चंडू आदि सभी

मादक द्रव्यों का सेवन करते है, जो न तपस्वी हैं, न ज्ञानी है, ऐसे दंभी और अन्यायी गुरुओ से साधारण गृहस्थ ही श्रेष्ठ है। ऐसे गुरुओ को मानना गुरुमूढ़ता है। और वह मिथ्यात्व का कारण है।

सम्यक्त्व की श्रद्धा के विषय मे तीर्थंकर भगवान् ने कहा है—

परमत्थ संथओ अ, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि—
वावन्न कुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

अर्थात् सम्यक्त्व का श्रद्धान इस प्रकार होता है, कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की कभी प्रशंसा न की जाय। क्योंकि प्रशंसा करने से अन्य भोले लोग उन्हे आदर्श मान कर उनके चक्कर मे पड़ जाएँगे और अपनी वृत्ति मे भी चंचलता उत्पन्न होगी। इस लिए उनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। जो देव सच्चे है, जिन का अनुसरण करने वाले गुरु सच्चे है और जिनके द्वारा प्रणीत दयामय धर्म सच्चा है, उनकी सच्चे हृदय से प्रशंसा और स्तुति करनी चाहिए, क्योंकि वे परमार्थ के स्वरूप को सम्यक्-प्रकार से जानते है। उन्हीं का शरण ग्रहण करना चाहिए। उन्ही की भक्ति करना चाहिए। वही आत्मकल्याण के कारण हैं।

किसी भी पदार्थ का पूर्ण और सर्वाङ्गीण विवेचन करने की पद्धति यह है, कि उसके अंगो पर विवेचन किया जाय। अंगो के समूह को अगी कहते है। जब तक अगो का ज्ञान न हो तब तक अंगी की कल्पना करना कठिन है। यदि हम किसी के शरीर का समग्र वर्णन करना चाहे तो हमे अनिवार्य रूप से उस के अंगोपांगो की ओर दृष्टि डालकर उनका वर्णन करना होगा। अंगो

का वर्णन ही एक प्रकार से अंगी का वर्णन है। क्योंकि अंग और अंगी मे कथंचित् तादात्म्य संबंध होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उसके अंगो का स्वरूप समझना अनिवार्य है। सम्यक्त्व के आठ अंग माने गये है। वह आठ अंग ही सम्यग्दर्शन है। अतः उनका संक्षिप्त स्वरूप जानना आवश्यक है। आठ अंग इस प्रकार है—

निस्संकियं निक्कंखियं निव्वितिगच्छा अमूढ दिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥

अर्थात् निश्शंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, यह आठ सम्यक्त्व के अंग या गुण है।

जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। और उनका स्वरूप भी वही है, जो भगवान् ने बताया है। इस प्रकार की निश्चल श्रद्धा को नि.शंकित अंग कहते है। श्रद्धा या विश्वास की अनिवार्य आवश्यकता पद-पद पर अनुभव की जा सकती है। क्या भौतिक जगत् मे और क्या आध्यात्मिक जगत् मे श्रद्धा के बिना पल भर भी काम नहीं चलता। जब बुद्धि मे एक प्रकार की चंचलता का प्रवेश होता है, तब मनुष्य ऐसी परिस्थिति मे आ जाता है, कि उसके संकल्प—जो जीवन मे बहुमूल्य है, क्षण भर मे नष्ट होने लगते है। वह अपने निश्चित पथ से भ्रष्ट होकर, विवेक की बागडोर को एक किनारे रखकर इधर-उधर निरुद्देश्य-सा भटकने लगता है। उस समय उसे अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट करने का कार्य श्रद्धा ही करती है। पूर्ण श्रद्धा के बिना, दृढ संकल्प के अभाव मे किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं

हो सकती । विशेषतया ऐसे क्षेत्र मे, जब कि साधना का विषय अत्यन्त परोक्ष होता है, बुद्धि बहुत बार मचल जाती है । उसे श्रद्धा के अंकुश से ठिकाने पर लाना पड़ता है ।

लोक-व्यवहार में भी श्रद्धा की आवश्यकता है। जो दूसरों पर अति अविश्वास करता है, वह दूसरों को अपने प्रति अविश्वास करने की प्रेरणा करता है । रोगी यदि औषध पर विश्वास करता है, तो उसे आरोग्य लाभ होते देखा जाता है । बहुत-से उपचार केवल मानसिक भावना पर ही अवलंबित है । लाखो करोड़ो रुपयो का लेन-देन विश्वास के बल पर ही चलता है । इस प्रकार जिसके अत:करण मे धर्म, आत्मा, मुक्ति, परलोक आदि विषयों मे निश्चल श्रद्धा है, वही धर्म मे दृढ़ रह सकता है । वही धर्मनिष्ठ कहला सकता है । जो संशयशील है, जो संदेह के झूले मे झूलता रहता है, वह 'इतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्ट.' होता है । और 'संशयात्मा विनश्यति' इस उक्ति का पात्र बनता है । अत: वीतराग भगवान् के वचनों पर रंचमात्र भी अश्रद्धा नही करना चाहिए । श्रद्धा का अर्थ अंधविश्वास नही है । अंध विश्वास और अश्रद्धा मे बहुत अन्तर है । श्रद्धा में विवेक को पूर्ण स्थान है । और अंध विश्वास अविवेक पर आश्रित है । अन्ध विश्वास मे परीक्षा का सर्वथा अभाव होता है । पर श्रद्धा मे परीक्षा-प्रधानता होती है । अंधविश्वासी सत्- असत् की ओर दृष्टि निपात ही नहीं करता । और श्रद्धालु सत्-असत् पर पर्याप्त विचार करता है ।

बात यह है, कि संसार मे बहुतेरे ऐसे विषय है, अनेक ऐसे तत्त्व है, जिन पर हमारी बुद्धि का, हमारे तर्क का प्रकाश पहुँच सकता है । पर बहुत से ऐसे भी विषय है, जहां बुद्धि की पैठ नही है, तर्क का जहां प्रवेश ही असंभव है । ऐसे तत्वो को यदि

तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया जाय, तो निष्फलता ही प्राप्त होगी। यही नहीं वरन् हम उस गूढ़ किन्तु वास्तविक तत्व के सम्यग्ज्ञान से भी वंचित रह जाएँगे। मगर ऐसे तत्वों पर जो श्रद्धा की जाय, वह उसके प्ररूपक की परीक्षा करके की जानी चाहिये। वक्ता या प्ररूपक की परीक्षा किये बिना ही जो यद्वा-तद्वा श्रद्धा कर ली जाती है, वह विवेक शून्य अंधविश्वास है किन्तु वक्ता की वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों की परीक्षा कर के यदि श्रद्धा को स्थान दिया जाय, तो वह श्रद्धा अभ्रान्त और विवेक पूर्ण होगी। सम्यग्दर्शन इसी प्रकार की विवेक युक्त श्रद्धा है—अंधविश्वास नहीं। जो तर्क की कर्कश कसौटी पर कसा जा कर सत्य सिद्ध होता है, जिसका प्रणेता पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग है, वह तत्व कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। उस पर अखंड विश्वास रखना और शारीरिक या मानसिक कायरता आदि के कारण उससे च्युत न होना नि:शंकित अंग है।

सम्यक्त्व का दूसरा अंग नि:कांक्षितता है। कांक्षा का यहाँ अर्थ है—सत्कार्यों के फल की इच्छा करना। मैं अमुक धर्म-कृत्य करता हूं, उसके फल स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय। मैं तपस्या करता हूँ, इस तपस्या से मुझे स्वर्ग के भोगोपभोग मिलें, सामायिक या प्रतिक्रमण के बदले व्यापार में नफा हो या पुत्र प्राप्ति हो। इत्यादि आकांक्षा धर्मकृत्य के महान् फल को तुच्छ और विकृत बना देती है। जैसे किसान धान्य के लिये खेती करता है। भूसा उसे आनुषंगिक रूप से मिल जाता है। उसी प्रकार मुमुक्षु जीव केवल आत्म शुद्धि के लिए, इह-परलोक संबंधी सुखों की कामना न करता हुआ धर्म की आराधना करता है। पर देवलोक का ऐश्वर्य आनुषंगिक रूप से प्राप्त हो जाता है।

यदि कोई विषय का लोलुप केवल ऐश्वर्य के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान करता है, तो भले ही उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाय पर असली फल—आत्म शुद्धि उससे दूर ही रहती है। जैसे विवेकशील जौहरी अपने अनमोल रत्न को कौड़ी के बदले नहीं लुटा देता। उसी प्रकार विवेकनिष्ठ धर्मात्मा अपने सदनुष्ठान रूपी लोकोत्तर रत्न को कौड़ी के समान ऐहलौकिक सुख के लिये नहीं लुटा सकता।

जिसे अभ्रान्त दृष्टि-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो चुकी है। उसका लक्ष्य विषयभोगों से बचकर मुक्ति की प्राप्ति करना बन जाता है। वह संसार में रहते हुए भी जल मे कमल के समान अलिप्त अगृद्ध रहता है। इन्द्रियों के विषय उसे काले नाग के समान विषैले जान पड़ते है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव न उन्हें अपना लक्ष्य बनाता है, न उनके प्रति अनुराग ही रखता है। फिर अपनी बहुमूल्य क्रियाओं को वह इन ओछे दामो पर कैसे बेच सकता है? जो इस प्रकार का व्यापार करने को उद्यत है, समझना चाहिए कि अभी तक उसका लक्ष्य शुद्ध नहीं हुआ है। उसे दृष्टि की विमलता प्राप्त नहीं हुई है। इसीलिए निदान शल्य का परित्याग करना व्रती जनो के लिए अनिवार्य माना गया है। निदान अपने शुभ अनुष्ठानों को मलिन बनाता है और साथ ही आत्मा मे भी वह मलिनता उत्पन्न करता है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीवो का यह आवश्यक कर्त्तव्य है, कि वे अपने किये हुए धर्म-कार्यों के फल की कदापि आकाँक्षा न करे। निष्काम भाव से सेवित धर्म और कृत-कर्म ही पूर्ण फल प्रदान करता है। आकांक्षा का विष उस फल को विषाक्त बना डालता है।

संसार के दुःखो से ऊब कर ही व्रत नियमादि धारण किये

जाते है। किन्तु उन व्रत, नियम, तप, जप आदि के फल स्वरूप भोगोपभोगों की सामग्री की पुनः इच्छा करके दुखों को आमंत्रण देना, कितने खेद और आश्चर्य की बात है ? विषयभोगों के जाल मे फँसकर ही तो आत्मा को जन्म-मरण की तंग घाटी मे से गुजरते हुए अनादि काल हो गया है। अब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर तो पूर्ण सावधानी की आवश्यकता है। भोगोपभोग विपाक्त पकवानो के समान है। वे क्षण-भर सुख का आभास कराते है,और दीर्घकाल तक घोर दु ख देते है। इन दु खो से रक्षा करने के लिए ही तो सम्यक्-चारित्र रूपी कवच धारण किया जाता है। इस कवच को धारण करके यदि भोगाकाक्षा रूपी अग्नि मे कूदने के लिए कोई तैयार हो, तो उसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? धूलि-धूसरित हाथी ने स्नान किया और स्नान करने के पश्चात् तत्काल ही फिर अपने सारे शरीर पर धूल बिखेर ली। ऐसी अवस्था मे वह हाथी कैसे स्वच्छ रह सकता है ? जिस वस्तु के सेवन से रोग की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। उसी का सेवन कर के रोग का विनाश करने की इच्छा करना, उन्मत्त-चेष्टा ही कही जा सकती है। यही बात चारित्र के फल की इच्छा करने के सबंध मे कही जा सकती है।

स्वार्थलिप्सा और कीर्तिकामना यह दोनों आकाक्षा के प्रधान अग है। आज अधिकाश जनसमूह इन्हीं अगों के वशवर्ती हो कर दान-पुण्य की प्रवृत्ति करते हैं। स्वार्थ से प्रेरित होकर वे कहते है—भाई, लो तुम्हे यह रुपये-पैसे देता हूँ। समय पड़ने पर इसके बदले तुम हमारा अमुक-अमुक काम कर देना। कई लोग कीर्ति के कीचड़ मे फँसकर अपने दान के प्रभाव को कलंकित करते हैं। वे जहां और जिस प्रकार अधिक से अधिक कीर्ति

प्राप्त हो सकती है वही दान देते हैं। एक बार दान देकर अनेक बार उसकी घोषणा करते हैं। और प्रकारान्तर से कीर्ति के साथ कीर्ति के अंडे-बच्चे भी कमाते हैं। शुद्ध त्याग-भाव-निष्काम अर्पण की महत्ता को उन्होंने समझा नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे विकारों से, और ऐसे विचारों से सदा पृथक् रहता है। वह दान पुण्य धर्म-क्रियादि जो भी प्रवृत्ति करता है उसमें निरपेक्षता निष्कामता अनाकांक्षा और स्वार्थ-हीनता ही विद्यमान रहती है। और इसी से उसे वह अनुपम और अपरिमित फल होता है, जो कामना-पिशाची के अधीन पुरुषों को नसीब नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह निःकांक्षित अंग का पालन करके अपने अमूल्य हीरे सम्यक्त्व की रक्षा करे।

सम्यक्त्व का तीसरा अंग 'निर्विचिकित्सा' अर्थात् घृणा न करना है। कर्मों के फल सभी को भोगने पड़ते हैं। उनका साम्राज्य अखंड है। चाहे कोई निर्धन हो या सधन हो, रंक हो या राजा हो, योगी हो या भोगी हो, कोई भी कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं पा सकता। अतएव किसी सदाचारी गृहस्थ या मुनि को या अन्य किसी भी व्यक्ति को कर्म के उदयसे कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो उसे देख कर घृणा नहीं करनी चाहिए। जो लोग कर्म के फल को भुगत रहे हैं, उन्हे देख कर हम नये कर्मों का बन्ध क्यों करें? रोगी मुनि हो, तो उन्हें देख कर हमें यही भावना करनी चाहिए, कि धन्य है ये मुनिराज, जो घोर वेदना सहन कर के भी मुनि-धर्म का दृढ़ता के साथ पालन कर रहे हैं। रोगी यदि गृहस्थ हो तो सोचना चाहिए कि इस प्रकार की विषम और प्रतिकूल परिस्थिति मे भी, यह अपने गृहस्थ-धर्म का पालन किस तत्परता के साथ कर रहे है? जो विपत्ति में भी अपने धर्म पर

अविचल रहते है, वही इस लोक मे अपने यश और कीर्ति के द्वारा अमर रहते है और मुक्ति को प्राप्त करके भी अजर-अमर बन जाते है। वे संसार मे नहीं रहते, फिर भी उनका सुन्दर आदर्श भव्य जीवो के लिए पथ-प्रदर्शक होता है। उनके चरित से अनेक प्राणी प्रेरणा प्राप्त कर प्रशस्थ पथ मे प्रयाण करते हैं। जो लोग शारीरिक कष्ट आने पर धर्म को एक किनारे रख देते है, वे क्या शरीर को नित्य बना पाते है? क्या उनका शरीर सदा विद्यमान रहता है? फिर शरीर-रक्षा के निमित्त धर्म का परित्याग कैसे किया जा सकता है? शरीर तो पुन. पुन. मिलता रहता है और यदि न मिले तो सर्वोत्तम बात है। पर धर्म तो बड़ी कठिनाई से मिलता है। धर्म की रक्षा के लिए एक क्या हजारो शरीरों का त्याग करना भी अनुचित नहीं है।

शरीर-रचना की मूल भित्ति पर विचार करने से विदित होगा, कि वह कैसे-कैसे अपवित्र पदार्थो से बना है और कैसे अशुचि पदार्थ उसमे भरे हुए हैं। चर्म-मय चादर से ढँके हुए शरीर को उघाड़ कर भीतर देखा जाय, तो इस मे मास, रुधिर, अस्थि, मल, मूत्र, आदि के अतिरिक्त और क्या भरा हुआ है? बाहर से देखो, तो मल-मूत्र बहाने वाली नौ नालियां दिखाई देती है। शरीर मे जो सौन्दर्य कल्पना की जाती है, वह केवल चमड़े पर आश्रित है। ऐसी अवस्था मे यदि मुनि का तन ऊपरी रज-प्रस्वेद आदि से मलिन दिखाई देता है तो घृणा करने की कौन सी बात है? उनकी आत्मा मे जो लोकोत्तर गुण विद्यमान है वही आदर और प्रतिष्ठा के योग्य हैं। आत्मा तो शरीर से सर्वथा भिन्न है। अत एव शरीर की स्थायी मलिनता से घृणा न करते हुए, हमें मुनियों के आत्मिक उज्ज्वल और पवित्र गुणों पर अनुराग रखना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे श्री नन्दिषेण मुनि की कथा अत्यन्त उपयोगी है। वह इस प्रकार है :—

नन्दिषेण मुनि ज्ञान और चारित्र के भंडार थे। किन्तु उन में सेवा-भाव की मात्रा इतनी अधिक थी, कि उनके रोम-रोम से आदर्श सेवा भाव का प्रदर्शन होता था। सेवा करने में उन्हें आनन्द अनुभव होता था। वे बड़े चाव से सेवा मे तत्पर रहते और रोगी को देख कर कभी घृणा तो करते ही न थे। उनकी इस आदर्श और निष्काम सेवा की प्रशंसा धीरे-धीरे स्वर्ग तक जा पहुँची। एक बार देवराज इन्द्र ने भी मुनि नन्दिषेण की अनुपम सेवा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पर सब मनुष्यों की भाति सब देवो की प्रकृति भी एक-सी नही होती। अतएव इन्द्र की सभा मे उपस्थित, दो देवताओ को इन्द्र का कथन अत्युक्ति पूर्ण जान पड़ा। उन्हे मुनि के सेवाभाव पर विश्वास न हुआ और उन्होंने परीक्षा करने का निश्चय किया। दोनों देव स्वर्गलोक से परीक्षा करने के निमित्त प्रस्थान कर मध्यलोक मे आन पहुँचे। दोनों ने मुनिवेष धारण किया। एक तोंद फुला कर पड़ रहा और दूसरा नन्दिषेण मुनि के बिलकुल समीप जा पहुँचा। श्री नन्दिषेण मुनि उस समय आहार लेकर लौटे थे। वे आहार करने के लिए तत्पर होकर हाथ बढ़ा ही रहे थे, कि इतने मे उस मुनि-वेषी देव ने डांट कर कहा—अरे आहार लोलुप! तुझे पता नही, कि यहां से नजदीक ही एक मुनिराज अस्वस्थ पड़े है। वहां जाकर उनकी खोज-खबर तो ली नही और आहार गटकने बैठगया! इस पर भी अपने को सेवाभावी कहते हुए तुझे संकोच नही होता? यही आदर्श सेवापरायणता है? धन्य है तुम्हारी सेवा-प्रियता!

मुनिवेषी देव की उत्तेजनापूर्ण बातें सुन कर नन्दिषेण बड़ी शान्ति से बोले—"मुनिजी, मुझे नहीं ज्ञात है, कि कोई मुनिराज ग्लान अवस्था में यहाँ कहीं मौजूद हैं। यह तो अभी-अभी आपके मुखारविन्द से सुन रहा हूँ। सचमुच अज्ञातभाव से मुझ से यह अपराध बन गया है ? मैं हृदय से पश्चाताप करता हूँ। अनुग्रह कर बताइए, ग्लान मुनि कहां है ? मैं उन्हें पहले ही संभाल लेना चाहता हूँ।'

मुनिराज नन्दिषेण इस प्रकार सौम्य वचन कह कर आहार ग्रहण किये बिना ही उठ कर चले। जब वे वहां पहुँचे, तो वह बीमार बना हुआ मुनि-वेषी देव बोला—"नंदिषेण जी ! आपके सेवाभाव की तो बड़ी प्रशंसा सुनी है। पर क्या कारण है, कि आपने मेरी सुधि ही न ली ?'

नन्दिषेण मुनि ने विनम्र भाव से क्षमा-याचना की और तब मधुर स्वर से बोले—'मुनिनाथ ! योग्य सेवा का आदेश दे कर कृतार्थ कीजिए।'

देवमुनि—आदेश की आवश्यकता ही क्या है ? देखते तो हो, मुझे वमन-पर वमन और दस्त-पर-दस्त हो रहे हैं। नगर में जाकर जल ले आइए। मुझे शरीर स्वच्छ करना है।

नन्दिषेण मुनि, ग्लान मुनि की आज्ञा शिरोधार्य कर, नगर में पहुँचे. मगर देव ने अपनी विक्रियाके बल से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी, कि वे जहां भी गये, अकल्पनीय पानी ही मिला। क्योंकि देव, नन्दिषेण मुनि की परीक्षा करना चाहता था और किसी भी व्यक्ति के आदर्श गुण की परीक्षा तभी होती है, जब उसे कठिनाई में डाला जाय। जो कोटिश. विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर भी अपने सद्गुण का त्याग नहीं करता, जो अपने सत्संकल्प से

लेशमात्र भी च्युत नहीं होता और जो ग्रहण किये हुये सन्मार्ग में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है, वही कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। और जो इस प्रकार की परीक्षा मे उत्तीर्ण होता है, उसी को कीर्ति-कामिनी स्वेच्छा से वरण करती है, वही अपने उद्देश्य के चरम भाग को प्राप्त करता है और सिद्धि उसके हाथ का खिलौना बन जाती है। श्री नंदिषेण मुनि अपने संकल्प के पक्के थे। वे इधर-से-उधर और उधर-से-इधर बहुत घूमे। फिर भी कल्पनीय जल उन्हे प्राप्त न हो सका। कही द्वार बंद मिला कही घर सूना दिखाई दिया, कही प्रासुक जल ही न मिला और कही मिला भी तो सचित्त वनस्पति आदि से स्पष्ट मिला। यह सब मुनि के लिए अकल्पनीय था। तात्पर्य यह, कि वे सर्वत्र घूमे, पर कही योग्य पानी न पा सके। अन्त मे उदास होते हुए वे वापिस लौटे। देवमुनि के समीप पहुँच कर उन्होने समग्र वृतान्त कह सुनाया।

देवमुनि तमक कर बोला—अरे इतना विलम्ब होगया, जो गये सो वही के हो रहे। लाओ मुझे पानी की शीघ्र ही आवश्यकता है।

नन्दिषेण मुनि बोले—"महाराज! अपराध की क्षमा चाहता हूँ। मैने अपनी शक्ति भर प्रयत्न किया। बहुत भ्रमण किया। समस्त नगर में चक्कर काटा। पर कल्पनीय जल कहीं न मिला। महाराज आज मेरा भाग्य मंद हो गया। मुझ से आपकी सेवा न बन पड़ी। अब कृपा कर नगर के सन्निकट पधारिये। वहाँ फिर जल की गवेषणा करूँगा।"

देवमुनि—'नन्दिषेणजी, आपके भाग्य के साथ ही साथ आपका विवेक भी मंद पड़ गया मालूम होता है। देखते नहीं, इस अवस्था मे, मै गमन करने मे अशक्त हूँ। मुझ से एक पैर भी पैदल नहीं चला जाता है।"

नन्दिषेण—'महाराज ! कृपा कर मेरे कंधे पर विराजमान-सवार हो जाइए।'

देवमुनि श्री नन्दिषेण के कंधे पर सवार हो गया। उसने अपनी विक्रिया के द्वारा मुनि पर कै, दस्त करना आरंभ कर दिया। मुनिराज का समग्र शरीर कै दस्त से लथपथ हो गया। फिर भी नन्दिषेण मुनि के ललाट पर सिकुड़न तक न आई। उनका मन तनिक भी मलिन न हुआ। घृणा उनके पास भी न फटक पाई। वे अपने सेवाभाव से रंचमात्र भी विचलित न हुए। उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट झेल कर भी मुनिवेषी देव के उपचार से मुँह न मोडा।

श्री नन्दिषेण मुनि का आदर्श युग-युग मे अमर रहेगा। आधुनिक काल मे जगह-जगह पर औषधालय और चिकित्सालय स्थापित किये जाते हैं। पर वहाँ इस प्रकार के आदर्श सेवाभाव की कमी दृष्टिगोचर होती है। इन चिकित्सा गृहो मे यदि उपचार के साथ-साथ सेवा के प्रति इतना उत्कृष्ट अनुराग उत्पन्न हो जाय, तो सोने मे सुगंध की कहावत चरितार्थ होने लगे। अस्तु। प्रयोजन यह है कि मलिन तन आदि देख कर घृणाभाव न उत्पन्न हो और गुणों की ओर दृष्टि आकृष्ट हो जाय। यही सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सा अंग है।

सम्यक्त्व को भूषित करने वाला चौथा अंग है,'असूढदृष्टि'। देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप को न पहचानना मूढ़ता है। सच्चे देव को कुदेव और कुदेव को सच्चा देव मान लेना, वास्तविक गुरु को कुगुरु और कुगुरु को वास्तविक गुरु स्वीकार करना, सुधर्म को कुधर्म और कुधर्म को सुधर्म समझ बैठना, यह मूढता का स्वरूप है। पंचाग्नि तप तपना जल मे समाधि लगाना,

शरीर पर भस्म लगा कर अपने को तपस्वी घोषित करना, नाना प्रकार के विवेकहीन काय-क्लेश सहन करना, आध्यात्मिक दृष्टि के बिना बहिर्भाव से लंघन करना आदि मूढ़ता है। सम्यग्दृष्टि जीव मे दृष्टि की निर्मलता का इतना विकास हो जाता है, कि वह मूढ़ताओं का शिकार कदापि नही होता। वह देव आदि के स्वरूप पर गहरा विचार करता है और तब श्रद्धा या आचरण करता है। वह जानता है, कि पदार्थ के सच्चे स्वरूप को पहचानने मे तथा उसके परिज्ञान मे कदापि हिचकिचाना नही चाहिए। जो किसी ने कह दिया, सो ठीक है, ऐसी कल्पना करते हुए 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार सत्य नही मान लेना चाहिए। धर्म के विषय मे खूब सतर्क, सावधान, मननशील और परीक्षा परायण होना चाहिए। इसी से सम्यक्त्व स्थिर रहता, भूषित होता और वृद्धिगत होता है। इस प्रकार लोक-मूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्म-मूढ़ता, देव मूढ़ता आदि से रहित विवेकपूर्ण श्रद्धा रखना ही अमूढ़दृष्टि अंग है।

अमूढ़दृष्टि अंग मे रेवती रानी का उदाहरण प्रसिद्ध है। चन्द्रप्रभा नामक एक विद्याधर ने त्रिगुप्ताचार्य से गृहस्थ धर्म धारण किया था। इस विद्याधर की प्रकृति ऐसी थी, कि वह सामान्य या असामान्य किसी बात को भी बिना सोचे-विचारे स्वीकार न करता था। एक बार वह मथुरा जा रहा था। उसने गुरु महाराज से पूछा—'महाराज मै मथुरा जा रहा हूँ। वहा के योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिए।'

मुनिराज—'सुव्रत नामक अनगार वहा पर है। मेरी ओर से उन्हे सुख-साता पूछना और रेवती रानी को धर्म-वृद्धि कह देना।'

विद्याधर ने सोचा—देखो, मथुरा मे भव्यसेन नामक मुनि

भी विराजते हैं, उनके संबंध में इन्होंने कुछ भी नहीं कहा—उनका स्मरण भी नहीं किया और रेवती रानी को धर्मवृद्धि का संदेश भेज रहे हैं। इसमें क्या रहस्य है? गुरुजी के मन में किसी प्रकार का राग द्वेष तो नहीं है? खैर, वहां चलें और इस रहस्य का पता लगाएँ। इस प्रकार शंकाशील होता हुआ विद्याधर वहां से रवाना हुआ। मथुरा पहुँचा और सुव्रत मुनि की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने यथाविधि वन्दना की, उपदेश सुना और अंत में वहां से विदा होकर भव्यसेन मुनि के पास पहुँचा। वे उस समय शौच-निवृत्ति के लिए बाहर जा रहे थे। वह विद्याधर भी उन्हीं के साथ हो लिया। उसने सोचा—देखें, इनका महाव्रतों के प्रति कैसा भाव है, किस सीमा तक यह उनका पालन करते हैं। इस प्रकार सोच कर विद्याधर ने अपने विद्याबल के द्वारा मुनि भव्यसेन के मार्ग में सब्जी-ही-सब्जी फैला दी और आप स्वयं कहीं एक ओर छिपकर बैठ रहा। मुनिराज उसी मार्ग से गमन करते दिखाई पड़े। वे हरितकाय देख कर भी दूसरे मार्ग से जाने को उद्यत न हुए। और अन्त में हरितकाय को कुचलकर आगे चले गये। विद्याधर उनका यह शास्त्र-बाह्य व्यवहार देख कर विस्मित हुआ। अब उसे विदित हुआ, कि गुरु महाराज ने भव्यसेन जी का स्मरण क्यों नहीं किया था? वास्तव में वे चारित्र-भ्रष्ट थे। वेष से मुनि होकर भी भाव से मुनि न थे।

विद्याधर ने सोचा—चलो लगे हाथों रेवती रानी की भी परीक्षा कर लें। वह परीक्षा के लिए चल दिया। उसने नगर के फाटक पर जाकर एक ऐसा रूप बनाया, कि दुनिया उसे देखने दौड़ पड़ी। पर धर्मपरायण रेवती रानी उसे देखने न आई। दूसरे दिन

सम्यक्त्व का छठा अंग 'स्थितिकरण' है । सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से किसी कारण-वश विचलित होने वाले साधर्मी को पुनः सम्यग्दर्शन या चारित्र मे स्थापित करना स्थितिकरण है। संसार मे बहुत से अनुकूल और प्रतिकूल प्रलोभन है। इन्द्रिया और मन सदा विषयों की ओर आत्मा को घसीट ले जाने के लिये उद्यत है। धर्मात्मा प्राणी बहुत सम्भल सम्भल कर चलता है, इन्द्रियों और मन पर पूरा नियन्त्रण रखता है। फिर भी अनादि काल के सासारिक संस्कारों का, अज्ञात रूप से उदय हो जाता है। उस समय आत्मा अपने दर्शन-चारित्र के मार्ग से डिगने लगता है। यदि कोई दूसरा धर्म-परायण व्यक्ति ऐसे समय मे सहायक हो जाय और उसे फिर धर्म मे निष्ठ बना दे, तो न केवल वह दूसरे का ही उपकार करता है, वरन् आत्मा का भी कल्याण करता है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव यह समझकर कि निज धर्म-जिन धर्म अर्थात् आत्म-धर्म की ओर अभिमुख होना और पर-धर्म अर्थात् इन्द्रिय-धर्म से सर्वथा विमुख होना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है, स्थितिकरण का सदैव ध्यान रखना है। जो लोग किसी प्रकार की निर्बलता मे पड जाते है, उन्हे स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि का यथार्थ स्वरूप समझा कर अथवा अन्य प्रकार से धर्म-स्थित बनाना सम्यक्त्व का भूषण है। जो महाभागी, इस भूषण से भूषित होता है, वह तीसरे, सातवे या आठवे जन्म मे अवश्यमेव मुक्ति का स्वामी बनता है। यह सर्वज्ञ भगवान का कथन है। अतः इस मे शंका को कोई स्थान ही नहीं है।

जो पुरुष, धर्म-पतित बन्धुओ को अपने तन-मन धन-ज्ञान आदि द्वारा किसी भी प्रकार समझा-बझाकर दृढ़धर्मी और प्रिय-

धर्मी बनाते है, उनका जीवन, जन्म और धन वस्तुत: सार्थक होता है। शिथिल व्यक्तियों को फिर से दृढ़ बनाने के लिए, पूर्ण शक्ति का प्रयोग करना महान् उपकार का कार्य है। जैसे रोगी को वैद्य का सहारा मिल जाने पर वह रोग से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार अपने अज्ञान या शैथिल्य के कारण जो आध्यात्मिक हीनता की ओर अग्रसर हो रहे हैं, उन्हें यदि थोड़ा भी सहयोग मिल जाय, तो वे भी पुन: सन्मार्ग पर आ सकते है। अतएव धर्म से पतित हुए व्यक्तियों से घृणा करना, उनसे परहेज करना, उन्हें धुत्कारना घोर अज्ञानता एवं अधार्मिकता है। इसके विरुद्ध शिथिलाचारी, पथभ्रष्ट और पतित व्यक्तियों को प्रेमपूर्वक गले लगाना, उन्हें सान्त्वना देना, सहयोग देना, उनकी रक्षा करना, सम्यक्त्वधारी का प्रथम और आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, वे धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा नहीं रखते। वे पतित प्राणियों के और अधिक पतन मे निमित्त बनते है। लोक मे अनेक ऐसी घटनाएँ देखी और सुनी जातीं है, जिनसे यह ज्ञात होता है, कि बहुत-से स्त्री-पुरुष अपनी थोड़ी सी प्रारंभिक असावधानी के कारण, संयम या नीति मर्यादा से चिगे, तो दूसरों ने उसके साथ अयोग्य एवं निंद्य व्यवहार किया, कि वे अधिक पतन की ओर अग्रसर हुए, ऐसा होने से उस व्यक्ति का ही अहित नहीं हुआ, किन्तु संघ की मर्यादा और शक्ति भी क्षीण हुई है। इस प्रकार करने वाले लोग, अपने को धर्मात्मा घोषित करते हुए भी वास्तविक धर्मात्मा नहीं है। सच्चा सम्यग्दृष्टि पतितो के उद्धार के लिए शक्ति भर प्रयत्न करता है। धर्म, पतितों को पावन बनाने के लिए ही है। यदि वह पतितों का उद्धार न करता, तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि अपने विशाल साम्राज्यको।

इस प्रकार खींचातानी शुरू हो गई। इस खिंचातानी मे आचार्य के हाथ की झोली छिटक गई। सोने के आभूषण पातरों मे से निकल कर बिखर गये। गहनो के बिखरते ही श्रावक चौंक उठे। बोले—'अरे! यह मामला क्या है?' एक ने कहा—'यह तो मेरे पृथ्वीकाया नामक बालक के गहने है।' दूसरा बोल पड़ा—'और यह गहने मेरे अप्काया नामक लड़के के हैं।' इस प्रकार भौचक्के होकर उन्होंने छहो के नाम बतलाये। आचार्य यह अनपेक्षित घटना देखकर लज्जा के मारे मानो गड़ गये। वे अपना मुँह ऊपर न कर सके। वे अपने कुकृत्य पर घोर पश्चात्ताप करने लगे। सोचा—धिक्कार है मुझे, जिसने साधुत्व के साथ मनुष्यत्व की भी हत्या कर डाली। सच पूछो, तो मैंने बालकों की ही हिंसा नही की, किन्तु धर्म-कर्म की, और अपने आत्मा की भी हिंसा कर डाली है। ऐसा घृणित और क्रूर कर्म करके मेरा जीवित रहना ही अकारथ है। हाय! जिस पवित्र साधु-वेष पर जनता न्योछावर होती है, जिसकी प्रतिष्ठा असीम है, उसी वेषको मैंने कलंकित किया!

आचार्य का यह मनस्ताप देव से अज्ञात न रहा। वह उनका रग ढंग देख कर समझ गया, कि आचार्य का हृदय पश्चात्ताप की अग्नि से कोमल हो रहा है। और वे सुधार के पथ पर अग्रसर हो रहे है। उसने अपना पूर्व शिष्य का रूप बनाया और अपने गुरुदेव के चरणों मे गिर पडा। गुरुजी उसे देखकर मानो सोते से जाग उठे। बोले—"अरे! शिष्य! तुम हो?"

शिष्य बोला—जी हां, अब मैं देव हो गया हूँ।

गुरु—तुम देव हो गये थे, तो क्यों न मुझे पहले ही सूचना दे दी? इतना विलम्ब करके क्यो मेरी जन्म-जन्म की पूँजी पर पानी फेर दिया? तुम्हारे विलम्बने मेरा तो सत्यानाश कर दिया।

से तथा हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार, मांस-मदिरा सेवन, ईर्षा, ममत्व आदि के त्याग से धर्म की प्रभावना होती है।

धर्म की महिमा का विस्तार करने मे सोत्साह न होना, अपने तन-मन-धन संबंधी शक्तियों को छिपाना, धर्माचरण मे अनुरक्त न रहना, धर्म को ढोंग समझना, धर्म मार्ग मे चलते समय विघ्न बाधा के आने पर तुरंत धर्म से किनारा काट लेना, इत्यादि कार्यों से अप्रभावना होती है और अप्रभावना सम्यक्त्व का कलंक है।

विजयपुर की महारानी ने, अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता लोक मे प्रकट करके धर्म की महान् प्रभावना की थी। उसका संक्षिप्त वर्णन इस भांति है—

विजयपुर के राज्य की बागडोर, विभूतिविजय नामक राजा के हाथ मे थी। उसकी पटरानी का शुभ नाम गुणसुन्दरी था। पति और पत्नी-दोनों के बीच धर्म के स्वरूप के संबध मे परस्पर वाद-विवाद प्राय. हुआ ही करता था। रानी वीतराग-धर्म की अनुगामिनी थी और राजा किसी मिथ्यामार्ग का अनुयायी था। धीरे-धीरे एक दिन वादविवाद की उग्रता ने ऐसा रूप धारण कर लिया, कि दोनों मे कटुता और डाह उत्पन्न हो गई। राजा मौके बेमौके महारानी के धर्म पर मिथ्या आक्षेप करके उसकी निन्दा करने लगा। वह कभी-कभी कहता—'चल देख लिया तेरे धर्म को! सामायिक का बहाना करके कुछ-कुछ गुनगुनाती रहती है। अवसर आने दे तब तेरे धर्म की सचाई भी परख लूंगा।'

एक दिन राजा ने अपनी क्रूर प्रकृति के वश होकर एक पिटारे मे काला विषधर भुजग बंद करके, रानी के हाथ मे सौंप

दिया। उसने कहा–'रानी, लो यह हार गले मे पहन लो।' रानी बड़ी चतुर थी। वह पहले से ही सतर्क भी थी। राजा का षड्-यंत्र वह तत्काल समझ गई। उसने उसी समय भावपूर्वक नमो-कार मंत्र का जाप किया और धर्म के प्रबल बल का भरोसा करके पिटारा खोला। सर्प महामंत्र के जाप के प्रभाव से सुन्दर मुक्ताहार बन गया। रानी ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ वह हार गले में धारण किया। राजा ने यह अलौकिक घटना देखी, तो वह चकित रह गया। अब उसे रानी के धर्म की सत्यता का विश्वास हुआ। उसने सोचा—जब रानी के थोड़े-से प्रशस्त पाठ से भयंकर भुजंग भी भूषण बन सकता है, तब विशेष पाठ से आत्मा का लोकोत्तर कल्याण क्यो न हो जायगा? ऐसा विचार कर, राजा ने वीतरागधर्म पर पूर्ण श्रद्धा प्रगट की। यह संवाद जब नगर मे पहुँचा, तब नागरिक जन भी पहले विस्मित होकर फिर वास्तविक धर्म की वाह! वाह! करने लगे। इस प्रकार धर्म की खूब प्रभावना हुई। इस प्रभावना के कारण राजा के साथ-ही-साथ हजारो नगर-निवासियो ने जिनमार्ग अंगीकार किया।

प्रभावना से प्रभावित हो, अनेक प्राणी वास्तविक धर्म को प्राप्त कर, मुक्ति पथ के पथिक बन जाते है। अतएव तन, मन. धन, ज्ञान, विज्ञान, आचार-विचार आदि अपनी शक्ति के द्वारा धर्म की महिमा बढ़ाना प्रत्येक सम्यक्त्व-धारी का प्रधान लक्षण है। इस प्रभावना के पथ मे कोई अनुदार, विघ्नसंतोषी जन बाधाएँ खड़ी करे, तो भी निरन्तर अग्रसर होते जाना, वीरों का कर्त्तव्य है। विघ्न-बाधाओं से भयभीत होकर अपने उद्दिष्ट पथ से विचलित हो जाने वाला कायर नर, सफलता की अंतिम सीढ़ी पर

पड़ता है उससे पिंड छूटेगा और संभव है आगे के लिए भी कुछ सामान इकट्ठा हो जाय।' इस प्रकार विचार कर अपने जन्म गत संस्कारो के कारण बन मे जाकर उसने किसी तापस से तापसी दीक्षा ग्रहण करली। वह उसी मे आत्मा का कल्याण समझता हुआ पंचाग्नि तप तपने लगा।

भारतवर्ष मे उस समय भी गंगानदी के किनारे वाराणसी-जिसे आजकल बनारस कहते है, नगरी थी। उस समय वाराणसी नगरी की शोभा अद्भुत थी, उसकी छटा अनुपम थी। प्रकृति ने मानो उसे बड़े चाव से, बड़े हावभाव से सजाया—सिंगारा था। सुन्दर सरोवरो मे खिले हुए कमल, नगरी के सौंदर्य मे चार चाद लगा रहे थे। अत्यन्त उन्नत और विशाल प्रासाद सुमेरु से स्पर्धा कर रहे थे। नगरी के निवासी न्यायनिष्ठ, सदाचारी और धार्मिक थे। धन-धान्य से परिपूर्ण और वैभव से मंडित वह नगरी जम्बूद्वीप का आभूषण थी।

इस नगरी मे संसार प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश के प्रतापी और पराक्रमी राजा अश्वसेन का शासन था। राजा अश्वसेन बड़े ही दानशूर थे। उनकी दानशूरता चारो ओर प्रसिद्ध हो चुकी थी और इस कारण सर्वत्र उनके यशश्चन्द्र की रोचिर रश्मिया व्याप्त थीं। राजा राजनीति मे पारगत थे। उसकी वीरता की कथा सुन कर बड़े-बड़े शूरवीर पीपल के पत्ते की तरह कांपते थे। राजा अश्वसेन दयालु होने पर भी अन्यायियों, अत्याचारियो और आततायियो को कठोर दंड देने मे कभी हिचकते न थे। वे राजा पद की मर्यादा को भली भांति जानते और निवाहते थे।

महाराज अश्वसेन की पट्टरानी का नाम 'वामादेवी था। वामादेवी आदर्श महिला के समस्त गुणो से युक्त, पतिव्रता,

भद्रशीला, कोमल हृदया, धर्म परायणा और वत्सलता की मूर्ति थी। दोनों एक-दूसरे के अनुकूल, सहायक और सखा थे। दोनो मे परस्पर प्रगाढ़ और विशुद्ध प्रेम था। वामादेवी अपनी विद्वत्ता और कुशलता से महाराज की राज-काज में भी यथायोग्य सहायता करती थी। दोनों एक-दूसरे को पाकर सन्तुष्ट, सुखी और सम्पूर्ण थे।

जगत् में जो वैचित्र्य राजा-रंक, सम्पन्न-विपन्न आदि मे देखा जाता है, वह निष्कारण नही है। प्रत्येक कार्य, कारण से ही उत्पन्न होता है, यह सर्व विदित सिद्धान्त है। अतएव इस विचित्रता का भी कारण अवश्य है और पूर्वोपार्जित अदृष्ट के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही हो सकता। कई लोग कहते है कि सम्पत्ति विपत्ति आदि परिस्थिति उत्पन्न करती है। किन्तु ऐसी परिस्थिति या संयोग क्यों उत्पन्न होते है? सब के सामने एक सी परिस्थिति क्यों नही होती? इन प्रश्नो का समाधान उन के पास नही है। इनका ठीक-ठीक समाधान तो कर्म-सिद्धान्त ही कर सकता है। जिसने पूर्व जन्म मे पुण्य का उपार्जन किया है वह सम्पन्न कुल मे और अनुकूल संयोगों में उत्पन्न होता है और जिसने अशुभ कृत्य करके मलिन अदृष्ट का उपार्जन किया है वह विपन्न परिस्थिति और प्रतिकूल संयोगों मे उत्पन्न होता है। प्रस्तुत चरित को अवधान से अध्ययन करने पर यह सत्य एक दम स्पष्ट हो जाता है। मरुभूति के जीव ने अनेक जन्म धारण करके अपनी पुण्य रूपी सम्पत्ति की खूब वृद्धि की है। वह उत्तरोत्तर भवो मे निरन्तर उसे बढाने मे उद्योगशील रहा है। उसके इसी शुभ अदृष्ट के कारण वह इक्ष्वाकु जैसे उत्तम कुल मे महाराज अश्वसेन के यहा अवतरित हो तो उचित ही है।

मरुभूति के जीव की बीस सागरोपम की आयु शनैः शनैः समाप्त हो गई। वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में उसने देवलोक से च्युत हो वामादेवी की कुक्षि में अवतरित हुआ।

जब महारानी वामादेवी के गर्भ में भूतपूर्व देव का आगमन हुआ तब उन्होंने क्रमशः चौदह शुभ स्वप्न देखे—पहले आकाश मार्ग से आता हुआ एक सुन्दर सफेद हाथी उनके मुख में प्रविष्ट हुआ। इसी प्रकार एक हृष्ट पुष्ट अत्यन्त दर्शनीय बैल और नव हत्था केसरी सिंह उन्हें दिखाई दिया। चौथे स्वप्न में उन्होंने लक्ष्मी को देखा, फिर पुष्प-माला का युगल, चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, सरोवर, क्षीर सागर, देव-देवी से युक्त विमान, रत्नों की राशि और अन्त में चौदहवें स्वप्न में अग्नि की ज्वाला देखी। इन स्वप्नों को देखकर रानी के हृदय में स्वतः आन्तरिक उल्लास फैल गया। वह आह्लादित होती हुई उठी। स्वप्न देखने के पश्चात् उन्होंने निद्रा नहीं ली। वह अपने शयनागार से उठीं और अपने प्राणनाथ महाराजा अश्वसेन के शयनागार में पहुँची। वहां पहुँच कर धीमे और मधुर स्वर से महाराज को जगाया, उनका यथोचित सत्कार किया। महाराज ने प्रेम पूर्वक बैठने के लिए आसन दिया।

महाराज अश्वसेन और वामादेवी के दाम्पत्य जीवन का विवरण गृहस्थ जीवन में अपना एक विशिष्ट आदर्श रखता है। पति-पत्नि में किस प्रकार का मधुर संबंध होना चाहिए? यह बात उनके चरित से विदित होती है। इसके अतिरिक्त उल्लिखित विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि राजा और रानी की शय्या पृथक् पृथक् न थी किन्तु उनके शयनागार भी पृथक्-पृथक

कुशल और विदुषी धायें नियुक्त की गई थीं। धायें बाल-संगोपन कार्य में अनुभवी और बाल-मनोविज्ञान में प्रवीण थीं। बालक की इन्द्रियों एवं मन का विकास किस प्रकार सहज ही किया जा सकता है, यह उन्हें भली भांति ज्ञात था। माता-पिता-संरक्षक या उनके समीप रहने वाले मनुष्य के व्यवहार और भाषण का बालक के मन पर तीव्र प्रभाव पड़ता है। अतः बालक के सामने खूब संयम पूर्वक वर्तना-बोलना चाहिए। यह धायों को सम्यक प्रकार विदित था। वे इसके अनुसार ही आचरण करती थीं

धायों ने बालक को खेलने के लिये तरह-तरह के खिलौने रखे थे। वे खिलौने आजकल के रबर के खिलौनों, जैसे हानिकारक नहीं थे। रबर के खिलौनों में एक प्रकार का विष होता है उसका बालक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक की प्राकृतिक शक्तियों को विकसित करने के लिए खिलौना एक महत्वपूर्ण वस्तु है। आजकल की अनेक शिक्षा पद्धतियों के अनुसार खिलौनों द्वारा प्रारंभिक शिक्षा दी जाती है। धायों को यह भली भांति विदित था कि किस खिलौने से बालक को अनायास ही—बिना उस पर किसी प्रकार का दबाव डाले, क्या सुन्दर शिक्षा दी जा सकती है। अतएव वे उन खिलौनों का बुद्धिमत्ता के साथ प्रयोग करके बालक की शक्तियों के विकास के साथ-साथ उसका पर्याप्त मनोरंजन भी करती थीं। खिलौनों के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा वास्तव में वाचनिक शिक्षा से कहीं अधिक प्रभावजनक और अधिक स्पष्ट तथा स्थायी होती है।

आजकल की अनेक अज्ञान माताएँ बालकों को 'हौवा आदि का कल्पित भय बता कर उसे रोने से चुप करने का प्रयत्न करती हैं। उन्हें यह पता नहीं कि वे अपने क्षणिक आराम के लिए

बालक को सदा के लिये कायर, डरपोक और भीरु बना कर उस का जीवन नष्ट कर रही है। इस प्रकार से भयभीत हुआ बालक भविष्य मे साहसी, शूरवीर और निर्भय नहीं बन सकता। यही कारण है कि आज कल आर्य प्रजा मे भी वह वीरता वह निर्भयता और वह साहस नहीं है, जो पहले था। कुमार पार्श्वनाथ की धायें इस रहस्य को जानती थी और वे भूल कर के भी कभी ऐसा अनुचित व्यवहार नही करती थी।

रोते हुए बालक को चुप करने का एक अमोघ साधन दूध पिलाना मान लिया गया है। बालक चाहे जिस कारण से रो रहा हो माता समय-असमय का विचार न करके जल्दी से उसके मुँह मे स्तन दे देती है। यह भी एक प्रकार का अज्ञान है। बालक को एक अनिश्चित मात्रा मे दूध कभी नहीं पिलाना चाहिए। समय-असमय का भी विचार करना चाहिए। ऐसा न करने से बालक को अजीर्ण हो जाता है और उसका स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाता है। बालक सदा भूख से ही नहीं रोता। उसके रोने के अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं। उनको खोजना माता या धाय का कर्त्तव्य है, इस तथ्य को भी पार्श्व की धात्रियां अच्छी तरह समझती थीं। धाये बालक को सदैव साफ-सुथरा रखती थीं। मैला-कुचैला रखने से रोग बढते है।

इस प्रकार चतुर धायों के द्वारा पालन होने के कारण बालक पार्श्व सदा प्रसन्न रहते थे, स्वस्थ रहते थे और उनकी प्राकृतिक शक्तियों का अच्छा विकास हो गया था। धीरे-धीरे बाल्यावस्था समाप्त हो गई और बालक पार्श्व ने अब कुमार अवस्था मे प्रवेश किया।

अपूर्व विजय

उस समय वाराणसी के पश्चिम मे कुशस्थल नाम का एक विशाल और समृद्ध नगर था। वहा के राजा का नाम प्रसेनजित था। राजा प्रसेनजित की एक सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम प्रभावती था। प्रसेनजित ने प्रभावती की सम्मति के अनुसार पार्श्वकुमार से उसका विवाह सम्बन्ध करने का निश्चय किया। यह समाचार कलिंग के राजा ने सुना। प्रभावती के सौन्दर्य पर अनुरक्त होकर उसने अपनी विशाल सेना के साथ कुशस्थल पर चढ़ाई कर दी। कुशस्थल के चारों ओर उसने घेरा डाल दिया और अपने शूरवीर योद्धाओं को स्थान-स्थान पर नियुक्त कर दिया। कलिंगराज ने प्रसेनजित को सूचित कर दिया कि या तो कुमारी प्रभावती को मेरे सुपुर्द करो या रणस्थल मे आकर सामना करो। प्रसेनजित इस अचिन्त्य आक्रमण का सामना करने की तैयारी न कर सके। विवश हो प्रसेनजित ने अपने मंत्री के पुत्र को एक गुप्त मार्ग से बनारस भेजा। उसके जाने की कलिंगराज के गुप्तचरों को जरा भी खबर न होने पाई। अमात्य पुत्र बनारस जा पहुँचा और कलिंगराज के सहसा आक्रमण का विस्तृत वर्णन सुनाया। महाराज अश्वसेन ने समस्त वृतान्त सुना तो उनकी भ्रकुटी चढ गई। वीर रस की लालिमा उनके नेत्रों मे चमक उठी। बोले—'कलिंगराज की यह धृष्टता। उसके होश बहुत शीघ्र ठिकाने लाता हूँ। मंत्री-पुत्र! आप निश्चिन्त रहे। कुशस्थल का शीघ्र ही उद्धार होगा।

इस प्रकार उसे सान्त्वना देकर महाराज अश्वसेन ने तत्काल सेनापति को बुला कर सेना तैयार करने का आदेश दिया।

सेनापति के विगुल बजाते ही दम-भर मे सेना सज्जित हो गई। कुमार पार्श्व को जब पता चला तो वे महाराज के पास आये और बोले—'पिताजी ! आज क्या बात है ? किसके दुर्भाग्य का उदय हुआ है जिसके लिए आपने सेना तैयार कराई है ?' महाराज अश्वसेन ने कहा—'वत्स ! कुशस्थल पर कलिंग के राजा ने अन्यायपूर्ण आक्रमण किया है। कुशस्थल नरेश अपनी सहायता चाहते हैं। न्याय पक्ष की सहायता करना क्षत्रिय का धर्म है। ऐसा न किया जायगा तो संसार मे घोर अव्यवस्था और अन्याय का साम्राज्य हो जायगा। अतएव कलिंगराज को न्याय का पाठ पढाने के लिए यह तैयारी की गई है। और शीघ्र ही मै कुशस्थल की ओर प्रयाण करता हूँ।'

कुमार ने कहा—'तात ! यदि आप मुझे इस योग्य समझते हो, तो अब की वार मुझे ही संग्राम मे जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। मै आप जैसे असाधारण योद्धा का पुत्र हूँ और न्याय का बल अपने पक्ष मे है इसलिए शत्रु का पराजित होना निश्चित समझिये। यद्यपि मेरी उम्र अधिक नहीं है तो भी क्या हुआ। बाल सूर्य, सघन अन्धकार का विनाश कर देता है और सिंह-शावक शृगालों का संहार कर डालता है। मै भी कलिंगराज के होश ठिकाने ला दूँगा।

महाराज अश्वसेन कुमार की वीरता को समझते थे। कुमार की वीरोचित वाणी सुनकर उन्हे हार्दिक सन्तोष और प्रमोद हुआ। प्रसन्नता के साथ उन्होने युद्ध मे जाने की स्वीकृति दे दी। पार्श्वकुमार सेना सहित कुशस्थल की तरफ रवाना हुए। मार्ग मे इन्द्र के द्वारा भेजा हुआ रथ लेकर एक सारथि आया। बोला—'कुमार ! आपकी सेवा मे महाराज इन्द्र ने यह रथ भेंट स्वरूप

भेजा है। अनुग्रह करके इसे स्वीकार कीजिए।' कुमार ने इन्द्र की भेंट स्वीकार की और उसी विशाल एवं द्रुतगामी रथ पर सवार होकर चल दिये। रणभेरी से आकाश को शब्दमय बनाती हुई सेना रणस्थल कुशस्थल जा पहुंची। उचित स्थान देखकर वनारस की सेना पडाव डाल कर ठहर गई।

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से एक प्रथा चली आती है। आक्रमण करने से पहले प्रत्येक राजा अपने विरोधी के पास दूत भेजकर उससे अपनी मांगे स्वीकार कराने का सन्देश भेजता है। यह प्रथा धीरे-धीरे अनार्य राजाओं तक फैलकर प्राय: सर्व-व्यापक सी हो गई है। इस प्रथा के अन्तरंग मे जैन धर्म का अहिंसा विषयक एक नियम विद्यमान है। श्रावक निरपराध त्रस प्राणी की हिंसा का त्याग करता है। वह केवल 'सापराधी' का अपवाद रखता है। यदि दूत द्वारा अपनी मांग स्वीकार करने की सूचना न दी जाय तो कदाचित निरपराध की हिंसा हो सकती है। सम्भव है विरोधी वह मांग स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया हो फिर भी उसका अभिप्राय जाने बिना आक्रमण कर दिया जाय तो ऐसे युद्ध मे होने वाली हिंसा निरपराध की हिंसा कहलाएगी और वह श्रावक धर्म से विरुद्ध है। इसी कारण दूत को भेजकर अपने विरोधी का अभिप्राय जान लेने की परिपाटी चली है। तदनुसार पार्श्वकुमार ने भी चतुर्मुख नामक दूत कलिंगराज के पास भेजकर अपना अभिप्राय कह भेजा। कुमार ने कहलाया—"कलिंगराज! संसार मे राजाओं की व्यवस्था न्याय की रक्षा के लिए की गई है। राजा न्याय का प्रतिनिधि है। वह स्वयं यदि अन्याय पर उतारू हो जायगा तो न्याय का रक्षक कौन रहेगा? मेड ही खेत को उजाड़ने लगे तो खेत की रक्षा

असम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्यायी राजा प्रजा के समक्ष न्याय की महत्ता किस प्रकार साबित कर सकता है ? आप कुमारी प्रभावती के साथ बलात् विवाह करने पर उतारू हुए हैं। पर कुमारी आपके साथ विवाह नहीं करना चाहती। ऐसी दशा मे विवाह-सम्बन्ध अगर हो जाय तो भी क्या लाभ होगा ? विवाह, वर-वधु का आजीवन का एक पवित्र सम्बन्ध है। वह बलात् होने से विवाहित जीवन शान्ति और सुख के साथ व्यतीत नहीं किया जा सकता। इससे घोर अशान्ति और संताप ही मिलेगा। एक बात और है। यह आपका व्यक्तिगत विषय है और वैयक्तिक विषय में राज्य की शक्ति का उपयोग करना सर्वथा अनुचित है। आप अपने अन्याय पूर्ण स्वार्थ को साधने के लिए न जाने कितने योद्धाओं के प्राणों की बलि चढ़ाएँगे। इससे राज्य को कोई भी लाभ न होगा। राजा को प्रजा के हितमें अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए प्रजा का बलिदान कर देना उसका कर्त्तव्य नही है। इसलिए कलिंगराज ! आपने जो अशुभ निश्चय किया है उसे शीघ्र बदल दीजिए। न्याय-अन्याय का निचार कीजिए। इतने पर भी आप न समझे तो युद्ध के मैदान मे आ जाइए। वही अन्याय का निर्णय दिया जायगा। स्मरण रहे आपके पक्ष मे अन्याय की निर्बलता है और मेरे पक्ष मे न्याय की सबलता है।

चतुर्मुख दूत ने कुमार का सन्देश कलिंगराज के सामने अक्षरशः सुना दिया। इस सन्देश को सुनकर उसके कुछ योद्धा भड़क उठे और दूत का अपमान करने को तैयार हो गए। पर कलिंगराज का मन्त्री अत्यन्त अनुभवी और चतुर था। उसने

कलिंग नरेश से कहा—"अन्नदाता ! कुमार के सन्देश पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसमें नीति का तत्व कूट-कूट कर भरा है। सन्देश का अक्षर-अक्षर राजा के कर्त्तव्य की महत्ता प्रदर्शित कर रहा है। इसके अतिरिक्त कुमार स्वयं अत्यन्त बली हैं। इन्द्र उनका सेवक है। उनके साथ विग्रह करके सफलता की आशा नहीं की जा सकती अतएव सन्धि करने का यह स्वर्ण अवसर है।"

मन्त्री की बात राजा के गले उतर गई। उसने दूत से कहा—"दूत ! जाकर कुमार से कह दो कि आपका संदेश पहुँच गया है मैं स्वयं उनके पास आकर वार्त्तालाप करना चाहता हूँ।"

कलिंगराज अपने मंत्री के साथ कुमार की सेवा में पहुँचे। कुमार ने उनका यथायोग्य आदर-सत्कार किया। बैठने को योग्य आसन दिया। कलिंगराज ने कहा—'कुमार ! आपके संदेश ने मेरे जीवन को एक नई दिशा में अभिमुख कर दिया है। उसका मेरे अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मेरी आज आंखें खुल गई। आपका संदेश यद्यपि संक्षिप्त था पर उसमें राजनीति के मूल भूत सिद्धान्तों का सत्व खींच कर आपने भर दिया है। आपके आदेशानुसार मैंने अपना संकल्प बदल दिया है। मैं शीघ्र ही सेना समेत कलिंग की ओर प्रयाण करता हूं।

कुमार—'आपके शुभ निश्चय के लिए धन्यवाद है। कलिंग-राज ! आपने मेरा निवेदन स्वीकार करके सहस्रों वीरों के प्राणों की रक्षा करली। अन्यथा न जाने कितनी सुहागिनों के सुहाग छिन जाते, न जाने कितनी विधवाओं के एकलौते लाल लुट जाते और संसार में अन्याय को प्रोत्साहन मिलता।'

कलिंगराज—'मगर कुशस्थल पर चढाई करने से मेरी

अभूतपूर्व विजय हुई है। कुमार! इससे जो अद्भुत लाभ मुझे हुआ है वह अब तक किसी चढ़ाई में नहीं हुआ।'

कुमार—'कौन-सी विजय और क्या लाभ? मैं आपका आशय नहीं समझा। कृपया स्पष्ट कीजिए।'

कलिंगराज—इस चढ़ाई से मुझे दो लाभ हुए हैं। कुमार! प्रथम तो यह कि मैंने अनेक बाहरी शत्रुओं पर विजय पाई थी पर हृदय में डट कर बैठे हुए दुर्भाव रूप शत्रु का मैं बाल भी बांका न कर सका था। आज इस युद्ध-भूमि में मैंने उसे पराजित कर दिया है। यह मेरी अभूतपूर्व विजय हुई है।

कुमार—'दूसरा लाभ क्या है?'

कलिंगराज—'दूसरा अद्भुत लाभ है आपका दर्शन होना। न यह चढ़ाई करता न आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता। इस प्रकार दोहरा लाभ लेकर मैं जा रहा हूँ।'

कुमार—यह आपकी सज्जनता है। मैं तो न्यायमार्ग का साधारण पथिक हूँ। आपके पक्ष में न्याय होता तो निश्चित समझिए मैं आपके साथ होता और महाराज प्रसेनजित का विरोध करने में तनिक भी संकोच न करता। आपने भयंकर नर-संहार टाल दिया, इस श्रेय के भागी आप ही हैं।

कलिंगराज—आपका सौजन्य अनुपम है। आपने मुझे जो सद्बुद्धि दी उसी से यह नर संहार टल गया है। अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।

कुमार—आपका मार्ग शुभ हो। पधारिये।

कलिंगराज—मगर मैं थोड़ा-सा विषाद भी साथ लेकर जा रहा हूं कुमार!

कुमार—वह क्यों कलिंगराज? मैंने आपके साथ कोई अन्

चित व्यवहार किया है ? क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे ?

कलिंगराज—जी हां, बताने के लिए ही तो कह रहा हूँ। आपने राजकुमारी प्रभावती के साथ होने वाले अपने शुभ-विवाह का मुझे आमन्त्रण नहीं दिया। क्या आप मुझे शामिल न कीजिएगा ?

कुमार–(मुस्करा कर) 'मूल नास्ति कुत. शाखा ?' जिसका मूल ही नहीं उसकी शाखा कहा से आएगी ? ऐसा अवसर आने की मुझे तो कोई संभावना दिखाई नही देती है। आप कहे तो निर्ग्रन्थ-दीक्षा-उत्सव का आमन्त्रण आपको पेशगी दे सकता हूँ।

कलिंगराज—नही कुमार, ऐसा न होने पाएगा। मै आपके पाणिग्रहण-महोत्सव मे ही सम्मिलित होऊँगा।

उस प्रकार हास्य-विनोदमय वार्त्तालाप के पश्चात कलिंग-राज कुमार के पास से विदा हुआ। कुशस्थल पर युद्ध की जो भीषण घटनाएँ मँड़रा रही थीं वे पार्श्वकुमार के प्रभाव रूपी पवन से क्षण भर मे तितर-बितर हो गईं। कुशस्थल अब कुशल-स्थल बन गया। सबकी जान मे जान आई। सभी एक मुँह से कुमार की प्रशसा करने लगे। जनता के समूह के समूह कुमार का दर्शन पाने को उमड पड़े। सभी के हृदय उल्लास से उछल रहे थे। सभी उमंगो से भरे हुए थे। राजा प्रसेनजित के आनन्द का तो पार ही न था।

विवाह

कोई देर बाद महाराज प्रसेनजित अपनी कन्या प्रभावती के साथ कुमार की सेवा मे उपस्थित हुए। यथोचित

शिष्टाचार के अनन्तर प्रसेनजित बोले—कुमार ! कुशस्थल अभी-अभी विपदाओं से घिरा हुआ था। भयंकर रण-चण्डी का चीत्कार मचने ही वाला था। न जाने कितनी सुहागिनों के सुहाग युद्ध-ज्वाला में भस्म हो जाते। कितनी विधवाएँ अपने पुत्रों के सहारे से वंचित हो जाती। नगर का यह सौन्दर्य भीषण रूप धारण करता। जहा अभी नर-नारी आनन्द से घूम रहे हैं वहां गिद्ध और शृगाल चक्कर काटते होते। पर धन्य है आपकी कुशलता और धन्य है आपकी शूरवीरता को, कि आपका शुभागमन होते ही परिस्थिति सहसा पलट गई। हम राज-परिवार के लोग और समस्त प्रजा किसी प्रकार आपके इस प्रसाद से मुक्त नहीं हो सकते। अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई साधन नही है। सबसे अधिक मूल्यवान् और मेरे लिए सबसे अधिक प्रिय यह कन्या-रत्न ही मेरे पास है। इसे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। इसके लिए आपसे अधिक सुयोग्य वर संसार में दूसरा नही मिल सकता।

पार्श्वकुमार ने कहा—महाराज ! मै अन्याय का प्रतीकार करने के उद्देश्य से तथा न्याय-नीति की रक्षा करने के लिए ही यहा आया हूँ। मेरे आने का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नही है। आप आग्रह करके व्यर्थ मुझे लज्जित न करें। मै बिना माता-पिता की आज्ञा के इस सम्बन्ध मे कुछ कह या कर नहीं सकता। क्षमा चाहता हूँ—आपकी आज्ञा मै स्वीकार न कर सका।

प्रसेनजित ने कुमार की दृढ़ता देख अधिक आग्रह करना उचित न समझा। उन्होने पार्श्वकुमार के विनय-भाव की मन ही मन प्रशंसा की। सोचा—धन्य है वे माता-पिता, जिन्होने

ऐसा सौम्य, पराक्रमी, सुन्दर, गुणवान् और आज्ञाकारी पुत्र पाया है। अभी कुमार विवाह की स्वीकृति नहीं देते तो न सही, उनके माता-पिता की अनुमति से यह सम्बन्ध करना ठीक होगा।

कुछ समय तक प्रसेनजित का आतिथ्य ग्रहण कर पार्श्वकुमार अपनी सेना के साथ बनारस की ओर चल दिये। जब वे अपनी अपूर्व विजय-पताका फहराते हुए बनारस के समीप पहुँचे और महाराज अश्वसेन को समाचार मिला तो नगरी को खूब सजाया गया। नागरिकों ने अत्यन्त उत्साह के साथ अपने-अपने घर-द्वार सिंगारे। जगह-जगह तोरण, पताका और स्वागत द्वारों के कारण सारा शहर ऐसा सुन्दर प्रतीत होता था मानों अलकापुरी हो। प्रतिष्ठित नागरिक और महाराज अश्वसेन बड़े स्नेह और स्वागत-समारोह के साथ कुमार को नगरी में लाये।

कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती पार्श्वकुमार को हृदय से वरण कर चुकी थी। उसने निश्चय कर लिया कि इस जीवन में यदि मेरा पाणिग्रहण होगा तो पार्श्वकुमार के साथ ही होगा। दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ तो मैं आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करूंगी। वह अन्तःकरण से अपना तन-मन कुमार को समर्पित कर चुकी थी। जब पार्श्व ने विवाह करना स्वीकार न किया और कुशस्थल से वे वापिस लौट आये तो राजकुमारी बहुत निराश हुई। उसका हृदय वेदना के प्रबल आघातों से जर्जरित सा होगया। राजकीय वैभव और सखी-सहेलियों का हास्य-विनोद उसके हृदय को सान्त्वना प्रदान न कर सका। वह निरन्तर उदास रहती, न किसी से विशेष वार्त्तालाप करती और न भरपेट भोजन ही करती थी। पार्श्वकुमार का तेजस्वी और सुन्दर

तापस-प्रतिबोध

कुमार एक बार महल के छज्जे पर बैठे हुए बनारस के बाजार की बाँकी छवि निहार रहे थे। उसी समय एक ओर से मनुष्यों का एक समूह हाथों में पत्र-पुष्प-फल आदि लिए हुए बड़ी उमंग के साथ शहर के बाहर जा रहा था। उसे देखकर कुमार ने अपने सेवक से उसके विषय में पूछताछ की। सेवक ने बताया—'स्वामी! आज नगर में एक बड़े ऊँचे दर्जे के कमठ नामक तापस पधारे हैं। वे बड़े तपस्वी हैं। सदा पंचाग्नि तप तपते हैं। उन्हीं की सेवा-पूजा के लिए यह लोग जा रहे हैं।'

कुमार भी तापस की तपस्या देखने चल दिये। वहां जाकर उन्होंने जो देखा उससे बड़ी निराशा हुई। उन्होंने देखा—कमठ धूनी धधकाये बैठा है। गाजे और सुलफे का दौर-दौरा है। दम पर दम लगाये जा रहे हैं। भक्त लोग आते हैं, उसे गांजा आदि भेंट करते हैं और गाजे का गुल भक्ति के चिन्ह स्वरूप लेकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। तापस की लम्बी-लम्बी जटाएँ उसके सिर को चारों ओर से ढके हुए हैं और नशे के कारण उसकी लाल-लाल आखें बड़ी डरावनी सी मालूम होती हैं। कुमार ने अपने अवधिज्ञान से एक बात और जानी। वह यह कि तापस की धूनी में जो मोटा-सा लक्कड़ जल रहा है उसमें एक सर्प-सर्पिणी का युगल जलता हुआ तड़फड़ा रहा है। यह जानकर कुमार के हृदय में तीव्र विषाद हुआ। उन्होंने तापस से कहा 'आप बड़ा अनर्थ कर रहे हैं धर्म के बदले घोर अधर्म का आचरण कर रहे हैं। जनता को कुमार्ग की ओर ले जा रहे हैं। आप स्वयं दुर्गति में जाने की तैयारी कर रहे हैं और दूसरों को भी अपना साथी बना रहे हैं।'

तापस—कुमार, मैंने सुना था कि बनारस के राजकुमार बड़े धर्मात्मा है, बड़े न्यायपरायण हैं। जान पड़ता है मेरा सुनना मिथ्या था। आपने यहाँ आते ही बिना मुझसे कुछ पूछे-ताछे, बिना समझे-बूझे सहसा फैसला कर दिया। फैसला करने से पूर्व अभियोगी को अपना वक्तव्य देने का भी अवसर नही दिया। क्या यही आपकी न्याय-निष्ठता है ? इसी प्रकार आप प्रजा का न्याय करेंगे ? आखिर बताइए तो कि मै क्यों अधर्म आचरण कर रहा हूँ ? कैसे अनथ कर रहा हू ? किस प्रकार दूसरों को दुर्गति में लेजा रहा हूँ ? मै तापस हूँ तपस्या करना मेरा धर्म है। परम्परा से हमारे सम्प्रदाय में जो आचार-व्यवहार होता आ रहा है, मैं बड़ी तत्परता से उसका अनुष्ठान कर रहा हूँ।

कुमार—मै चाहे नीतिपरायण होऊँ चाहे अन्यायी होऊँ पर आपके विषय में मैने रंचमात्र भी अन्याय नही किया। यह ठीक है, कि आपसे उत्तर मांगे बिना ही मैने निर्णय कर डाला है, परन्तु मेरा निर्णय असंदिग्ध है, उसमे कुछ भी भूल नही है। आप जो आचरण कर रहे है, वह धर्मयुक्त है इसका आपके पास एक ही प्रमाण है। और वह यह कि परम्परा से वही आचार होता आता है। पर महाराज ! परम्परा से तो सभी कुछ चला आता है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार भी तो मानवसमाज मे आज से नहीं, कल से नही, किसी खास समय से नहीं, बल्कि परम्परा से चला आ रहा है। क्या वह भी धर्म आचार कहलायगा ?

तापस—मगर मेरे आचार मे आप क्या अधार्मिकता देख रहे है ?

कुमार—आप हिंसा का घोर अनुष्ठान कर रहे है। हिंसा

जिस देह के संबंध से स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव आदि की कल्पना करके राग-वृद्धि की जा रही है वह देह ही एक दिन अग्नि में भस्म हो जायगा, मिट्टी में मिल जायगा या कोई जीव-जन्तु खा जायगा। तब यह संबंध स्वत. नष्ट हो जाएँगे। इनके लिए आत्मा के शाश्वत श्रेय में विघ्न डालना अज्ञान है।

इस प्रकार पुन पुन चिन्तन करना अनित्य भावना है।

(२) अशरणभावना

यदि तुमने मृत्यु की आज्ञा का लोप करने वाला बलवान् पुरुष देखा या सुना हो तो उसी की आराधना करके उसके शरण में जाकर रहो। न देखा सुना हो तो व्यर्थ श्रम करने से क्या लाभ है?

वास्तव में इस विशाल भूतल पर ऐसा कोई समर्थ पुरुष नहीं जिसके गले में काल का निर्दय पाश न पड़ा हो। तब किस के शरण में जाएँ? प्राणी जब दुनिवार कालरूपी सिंह की दाढ़ों के बीच आ जाता है तो मनुष्य बेचारा किस गिनती में है, देव भी स्वर्ग से आकर रक्षा नहीं कर सकते।

सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र—सभी अन्त में काल के जाल में फँस जाते हैं। कोई उसका निवारण नहीं कर सकता। काल रूपी सर्प से सेवित संसार रूपी वन में सभी पुराण-पुरुष प्रलय को प्राप्त होगये हैं। उनकी कोई रक्षा नहीं कर सका। यह काल-सर्प बालक-वृद्ध, सधन-निर्धन, राजा-रंक सभी को समान भाव से डँसता है।

पापी जन अपनी और अपने पुत्र-पौत्रों की रक्षा के लिए अनेक अकर्त्तव्य कर्म करते हैं। घोर हिंसा का अनुष्ठान करके

देवी-देवता को प्रसन्न करना चाहते हैं पर उन मूढ़ो को यह पता नहीं कि देवी-देवता भी मृत्यु के शिकार ही है। मणि, मन्त्र, तंत्र, यंत्र, आदि कोई भी उपाय मृत्यु को क्षण भर भी नही टाल सकता। किसी मे मृत्यु को निवारण करने की शक्ति होती तो क्या स्वर्ग के सर्वोत्तम भोगो का त्याग करके सुरेन्द्र काल के वश मे होता? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण करो। संसार मे परिभ्रमण करने वाले प्राणियो के लिए अन्य कोई भी शरण नही है।

इस प्रकार पुनः पुनः चिन्तन करना अशरण भावना है।

(३) एकत्व भावना

जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही गर्भ मे आकर देह प्राप्त करता है, अकेला ही बालक, युवक और वृद्ध होता है। इसके रोग को, शोक को, आधि-व्याधि को दूसरा कोई नही बँटा सकता। जीव अकेला ही पुण्य का संचय करता है, अकेला ही स्वर्ग के सुख भोगता है, अकेला ही कर्म खपा कर मुक्ति पाता है। अकेले ही पाप का बंध करता है, अकेला ही नरक की घोरातिघोर यातनाएँ भुगतता है, अकेला ही मरण-शरण होता है। स्त्री पुत्र, मित्र बन्धुजन टुकुर-टुकुर देखा करते है पर दुःख का लेशमात्र भी बांट नहीं सकते। यह सब जानता हुआ भी जीव मोह-ममता नहीं त्यागता! हे भव्यात्मन्! अन्तर्मुख होकर जरा विचार कर कि जिन आत्मीय जनों के राग मे अंधा होकर उनके राग-रंग और प्रसन्नता के हेतु तू अठारह पापस्थानकों का सेवन करता है, क्या वे उन पापों का फल उदय मे आने पर तेरा साथ दे सकेंगे? तेरी धन-दौलत के समान तेरे पाप-पुण्यों मे

हिस्सेदार बनेंगे ? यदि नहीं तो हे भोले जीव ! अपना आपा विचार । आत्मा के सिवाय और किसी मे अनुराग न कर । धर्म का सचय कर जिससे आत्मा का कल्याण हो ।

संयोग-वियोग मे, उत्पत्ति-मरण मे, तथा सुख-दु ख मे प्राणी के लिए दूसरा कोई भी सहायक सखा नहीं है ।

इस प्रकार चिन्तन करना एकत्व भावना है ।

(४) संसार भावना

दु.ख रूपी दावानल से क्षुब्ध, चतुर्गति रूप भयंकर भवरो से व्याप्त, इस ससार-सागर मे प्राणी दीन-हीन अनाथ होकर जन्मते-मरते रहते है । यह जीव कभी त्रस, कभी स्थावर होकर, कर्म रूपी बेड़ियो से जकड़ा हुआ कभी तिर्यञ्च का शरीर धारण करता है,कभी मनुष्य होता है, कभी पुण्य के योग से देव बनता है और पुण्य क्षीण होने पर फिर तिर्यंच और नरक गति के अत्यन्त घोर और असह्य दुःख झेलता है ।

स्वर्गीय सुखो में मस्त देवता रोता-पुकारता हुआ पशु बन जाता है और पशु देव बन जाता है । जाति मद मे उन्मत्त ब्राह्मण, चांडाल हो जाता है और चाडाल क्रियाकांडी ब्राह्मण बन जाता है ।

चारों गतियों मे अनन्त बार जन्म ले-लेकर इस जीव ने कौनसी योनि नही भोगी ? कौनसी पर्याय है जिसे यह न भोग चुका हो ? कौन ऐसा प्राणी है जो शत्रु, मित्र, पिता, पुत्र आदि सब कुछ न बन चुका हो ?

ओह ! इस संसार मे क्या सार है जहाँ बड़े से बड़ा सम्राट् मर कर तत्काल कीड़ा-मकोड़ा बन जाता है । यह दुःखों का धाम

है। नरक में शूल, कुल्हाड़ी, घानी, अग्नि, क्षार, छुरा, कटारी आदि-आदि नाना प्रकार के घोर व्यथा पहुँचाने वाले साधनों से निरन्तर दुःख सहन करने पड़ते है। तिर्यञ्च गति के दुःख प्रत्यक्ष हैं। मनुष्य गति में नाना प्रकार के शोक, संताप, आधि, व्याधि घेरे रहती है और मृत्यु सदा सिर पर मंडराती रहती है। देवगति भी अनित्य है। वहाँ से चल कर फिर घोर मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

समस्त संसार मानो एक बड़ी भारी भट्टी है। उसमे प्राणी जल-भुन रहे है। जैसे उबलते हुए अदहन में चावल इधर-उधर भागते फिरते है—कही भी उन्हे शान्ति प्राप्त नही होती इसी प्रकार जल मे, थल मे, आकाश मे इस जीव को कही विश्राम नही, शान्ति नही, साता नही। फिर भी अज्ञानी जीव संसार मे रचे-पचे है। संसार से मुक्त होने का प्रयत्न नही करते।

इस प्रकार सर्वथा असार, दुःखो के सागर तथा भयानक ससार मे विचार करने पर क्या कही भी सुख प्रतीत होता है? नही।

(५) अन्यत्व भावना

जीव जब मरता है तब शरीर यही छोड़ जाता है, जब जन्मता है तो पुराना शरीर साथ नही लाता। यह सब जानते है फिर भी आश्चर्य है कि मोही जीव आत्मा और शरीर को एक-मेक समझ रहा है।

आत्मा चिदानन्दमय है, उपयोग-स्वभाव वाला है। शरीर जड़ है, सड़ने-गलने वाला, अपवित्र और मूर्तिक है। दोनो एक कैसे हो सकते है? अनादिकालीन कर्मबंध के कारण यद्यपि

दोनों । संयोग हो रहा है फिर भी स्वरूप से दोनों निराले हैं। दोनों का भेद जन्म और मृत्यु के समय स्पष्ट मालूम हो जाता है वास्तव में जड और चेतन का क्या संबंध !

जब आत्मा शरीर से ही भिन्न है तो सगे-संबंधियों से, धन-सम्पत्ति से तथा भोगोपभोग के साधनों से अभिन्न कैसे हो सकता है ?

मोहीजीव जगत् के चेतन-अचेतन पदार्थों को अपना मानकर ही अबतक संसार में भटकता फिरता है। जिस दिन आत्मा के अतिरिक्त समग्र विश्व की वस्तुओं का अन्य रूप से श्रद्धान होगा उसी दिन सर्वोत्तम मंगल-मार्ग प्राप्त होगा।

हे जीव, निश्चय से समझ ले कि संसार में एक भी वस्तु आत्मा से अभिन्न नहीं है। स्त्री, पुत्र, पिता आदि सब अपने-अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार उत्पन्न हुए हैं और पेड़ पर पक्षियों के समान अकस्मात उनके साथ तेरा संयोग हो रहा है शीघ्र ही वह नव प्रभात आ रहा है जब सब अपने-अपने नये ठिकाने खोजने फिरेंगे। उस समय कोई किसी का न होगा। संसार में तू ही तेरा है, जो तुझसे भिन्न है उसे लाख चेष्टा कर के भी तू अपना नहीं बना सकता। अतएव पुत्र, मित्र, कलत्र को सांसारिक वस्तुओं और वैभवों को तू प्रतिक्षण आत्मा से भिन्न विचार किया कर।

इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचि भावना

जिस शरीर की सुन्दरता पर लोग इतराते हैं, जिसका अभिमान करते हैं और जिसे सजाने के लिए अनेक पापमय सामग्री

का संचय करते है, उस शरीर का वास्तविक स्वरूप कितना घिनौना है। देह के समान गंदगी का गेह समस्त संसार मे और कुछ नही है। ऊपर से मढ़ी हुई चमड़ी की चादर उतार कर शरीर का भीतरी भाग देखा जाय तो कितनी घृणास्पद वस्तुएँ दिखाई पड़ेगी? पवित्रता-पवित्रता का राग आलापने वाला क्रिया-कांडी कभी यह सोचता है कि वह अपने साथ अशुचि का भडार भरे फिरता है?

शरीर प्रथम तो घृणाजनक रज-वीर्य के सयोग से उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने पर वह मल-मूत्र, रक्त, मास पीव आदि अशुद्ध वस्तुओ से सदैव घिरा रहता है। यह हाड़ो का पिंजरा है और नसो से बधा हुआ है। इस शरीर मे कौन-सी वस्तु प्रशंसनीय है? लट और कीड़ो से भरा हुआ यह शरीर किस विवेकशाली को प्रीतिकर हो सकता है?

शरीर इतना अधिक मलिन है कि इसके ससर्ग मे आने वाली प्रत्येक वस्तु मलिन और घृणास्पद बन जाती है। उत्तम से उत्तम, सरस, स्वादु और मनोज्ञ भोजन करो। वह ज्योही शरीर के भीतर पहुँचा नही कि विकृत हुआ नही। शरीर के ससर्ग से वह सुन्दर भोजन मल मूत्र रक्त-मांस आदि बन जाता है।

कदाचित् समुद्र का सारा जल लेकर यदि शरीर शुद्ध किया जाय तो समुद्र-जल ही अशुद्ध हो जायगा। शरीर शुद्ध होने का नही। शरीरो मे भी मानव-शरीर और अधिक गंदा है। जानवरो का गोबर काम आता है, चमड़ी और सीग आदि भी काम आ जाते है पर मनुष्य के शरीर का प्रत्येक भाग अशुद्ध होने के कारण अनुपयोगी है। इसके नौ द्वारो से सदा अशुचि निकलती रहती है। फिर भी वह अज्ञानी प्राणी शरीर पर ऐसा राग रखते

है जैसे चील, कौए और कुत्ते मुर्दे पर राग रखते हैं।

जिन्होने शरीर पाकर उसे आत्म-कल्याण मे लगाया है वे महापुरुष धन्य है। उन्होंने अपवित्र शरीर से आत्मा का उद्धार किया है। हे भव्य जीव! तू शरीर के कारण ही अब तक सब अनर्थों को भोग रहा है। शरीर ने ही तुझे नाना प्रकार की विपदाओं का केन्द्र बनाया है। अब इस शरीर का धर्माचार मे प्रयोग कर। देह का यह पीजरा सदा रोगों का घर है, इसके रोम-रोम मे रोग भरे है, सदा अशुचि का घर है और सदा पतनशील है।

(७) आस्रव भावना

मन, वचन और काय को योग कहते है। तत्त्वज्ञानी महा पुरुषो ने योग को ही आस्रव कहा है।

जैसे समुद्र मे जहाज छिद्रो से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार जीव शुभाशुभ योगरूपी छिद्रो से कर्मो को ग्रहण करता है।

प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य, नियम, यम, मैत्री प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदि उत्तमोत्तम भावो से शुभ कर्मो का आस्रव होता है और कषाय रूप अग्नि से प्रज्वलित तथा इन्द्रिय विषयो से व्याकुल योग अशुभ कर्मो के आस्रव का कारण होता है। इसी प्रकार सासारिक व्यवहारोंसे रहित श्रुत ज्ञान के अवलंबन से युक्त, सत्य रूप प्रमाणिक वचन शुभास्रव के तथा निन्दारूप, असन्मार्ग के प्ररूपक, असत्य, कठोर, अप्रिय वचन अशुभ आस्रव के कारण होते है। भली भाँति वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से शुभकर्म का तथा सावद्य व्यापारो

में व्यापृत काय से अशुभ कर्म का आस्रव होता है।

यह आस्रव संसार का प्रधान कारण है। इसी के कारण जीव संसार में भ्रमण करता और अपने असली स्वरूप से वंचित रहता है। मुमुक्षु जीव शुभ योग के आलम्बन से अशुभ योग को हटाते है और शुद्ध भावों के द्वारा शुभास्रव का भी विरोध करके अन्त मे निष्कर्मा हो जाते हैं।

(८) संवर भावना

पूर्वोक्त आस्रव के रुक जाने को संवर कहते है। जैसे चारों ओर से पाल बाँध देने पर इधर-उधर से तालाब मे नवीन जल का प्रवेश नही हो पाता उसी प्रकार संवर रूपी पाल नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देती है। संवर मुक्ति का कारण है। वह उपादेय तत्त्व है।

संवर दो प्रकार का है—(१) द्रव्य संवर और (२) भावसंवर कर्म रूप पुद्गलो का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है और संसार की कारणभूत क्रियाओं से विरत हो जाना—सावद्य व्यापारों का परित्याग करना भावसंवर है।

जैसे वख्तर आदि सामग्री से सजा हुआ पुरुष युद्ध में बाणों से नही भिदता उसी प्रकार संवर शील 'संयमी' महापुरुष भी असंयम के बाणों से नहीं भिद सकता। अतएव जिस कारण से आस्रव होने की संभावना हो उसका प्रतिपक्षी कारण उपस्थित करके संवर की साधना द्वारा आस्रव को रोकना चाहिए जैसे—क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया कषाय को आर्जव से और लोभ को त्याग से रोकना चाहिए। संयमी मुनि निरन्तर समभाव एवं निर्ममत्व भाव से राग-द्वेष का निराकरण करने मे

उद्यमशील रहते है। वे सतत सावधान रहते हुए अपने योगो का निरीक्षण करते है और कब, कौन-सा भाव मन मे उत्पन्न हुआ सो भली भाति समझते है। यदि वह भाव अशुभ हुआ तो उसके प्रतिपक्षी भाव को ग्रहण करके उसका उपशमन करते है। वे अविद्या या अज्ञान को, तत्त्वज्ञान के द्वारा निराकरण करते है और असंयम रूपी विष के उद्गार को संयम रूप अमृत से दूर करते है।

जैसे चतुर द्वारपाल मलिन और असभ्य जनों को महल में प्रवेश नही करने देता उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पापबुद्धि को नही प्रवेश करने देती।

आत्मा जब कल्पनाओ के जाल से मुक्त होकर, अपने वास्तविक स्वरूप मे मन को निश्चल कर लेता है तभी परम सवर की प्राप्ति होती है।

(६) निर्जरा भावना

जन्म-मरण के कारण भूत कर्म जिससे जीर्ण होते है वह निर्जरा है पूर्वबद्ध ज्ञानावरण आदि कर्मो का फल जब उदय मे आ जाता है वह कर्म झड जाते है। यही कर्मो का झडना निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार की है—(१) सकाम निर्जरा और (२) अकाम निर्जरा। स्थितिपूर्ण होने से पहले तपस्या के द्वारा कर्मो का खिरना सकाम निर्जरा है और कर्म की बंधी हुई स्थिति पूर्ण होने पर, फल देने के बाद, उस कर्म का खिरना अकाम निर्जरा है। पहली निर्जरा तपस्वी मुनियो को होती है और दूसरी चारों गतियो मे सब जीवो को प्रति क्षण होती रहती है।

मुनि का उपशमभाव तथा तप ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों निर्जरा भी बढ़ती जाती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के जितनी निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुनी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि को होती है। इसी प्रकार श्रावक, मुनि, अनन्तानुबंधी कषाय का विसयोजक, दर्शनमोह-क्षपक, उपशम श्रेणी वाला उपशान्त मोह, क्षपक श्रेणी वाला, क्षीणमोह, सयोग केवली, और अयोग केवली के उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यात गुनी निर्जरा होती है।

जो मुनि दूसरे द्वारा कहे हुए दुर्वचनों को सुनकर कषाय नहीं करता, अतिचार आदि लगने पर यदि आचार्य कठोर वचन कहकर भर्त्सना करें, निरादर करें या प्रायश्चित दें तो शान्ति के साथ सहन करता है तथा उपसर्गों को समतापूर्वक भोगता है उसके विपुल निर्जरा होती है।

उपसर्ग या परीषह को चढ़ा हुआ ऋण समझकर जो मुनि समता से उसे चुकाता है, शरीर को मोह-ममता जनक, विनश्वर एवं अपवित्र मानता है, जो आत्मस्वरूप में स्थिर रह कर दुष्कृत की निन्दा करता है, बाह्य या अंतरंग तपस्या करता है, गुणी जनों का आदर करता है, इन्द्रियों और मन को गुप्त करता है वह विशेष निजरा का पात्र होता है।

इस प्रकार निर्जरा भावना से भावित अन्तःकरण वाला मुनि निर्जरा का पात्र बनकर सिद्धि पाता है।

(१०) लोक भावना

जहा जीव-अजीव आदि भावों का अवलोकन होता है उसे लोक कहते हैं। लोक के बाहर का समस्त खाली प्रदेश जो

मुझ से अब तक तृप्त न हुए होंगे। थोड़े दिन और ठहरने से यदि तृप्ति होने की सभावना होती तो मै अवश्य ठहरता और आप को संतुष्ट करके ही दीक्षा ग्रहण करता। पर देखता हूँ संसार अतृप्ति का आगार है। मोह रूपी पिशाच कभी तृप्ति नहीं होने देता। अतएव मै आप से आज्ञा लेकर दीक्षा धारण करना चाहता हूँ।

महाराज अश्वसेन ने कहा—पुत्र! मै जानता हूँ तुम्हारा जन्म साधारण प्राणियो की भाँति विषयभोगो मे व्यतीत करनेके लिए नही हुआ है। तुम्हार भीतर लोकोत्तर आलोक की आभा चमक रही है। तुम्हारे ऊपर विश्व-कल्याण का गौरव-पूर्ण महान् उत्तर-दायित्व है। सारा संसार तुम्हारे पथ-प्रदर्शन की बाट जोह रहा है। पर माता-पिता के हृदय की कोमलता का थोड़ा विचार करो। तुम्हारे अभाव मे हमारा सर्वस्व लुट जायगा। हम दरिद्र हो जाएँगे। कैसे यह प्राण धैर्य धारण करेंगे? तुम्हारी यह स्नेहमयी माता कैसे जीवित रहेगी? इसलिए मेरे लाल थोड़ा समय और इसी प्रकार व्यतीत कर दो। फिर आनंद से दीक्षा धारण करना।

कुमार ने कहा—पिताजी! यदि मै थोड़ा समय रह भी जाऊँ तो भी मोह कम न हो जायगा। अधिकाधिक संसर्ग से मोह-ममता की अधिक वृद्धि होती है। मेरे दीक्षित होने से आपका सर्वस्व न लुटेगा। आप अपनी इच्छा से मुझे संसारके कल्याणके लिए अर्पित कर दीजिए। फिर मै जैसे संसार का हूँ वैसे ही आप का भी हूँ। ससार मे अन्याय और अधर्म की वृद्धि हो रही है। धर्म का ह्रास हो रहा है। मुझ से यह देखा नहीं जाता। भीतरसे मेरा आत्मा तड़प रहा है। दुखियो की आहे मेरे कर्ण-कुहरो मे प्रवेश करके हृदय को छेद-सी रही है। हिंसा का दारुण नृत्य

मानों मुझे ललकार रहा है। एकान्तवाद या दुराग्रह रूपी निविड़ अंधकार बढ़ता चला जा रहा है इस अंधकार मे अगणित प्राणी विवेकान्ध होकर कुपथ की ओर बढ़ते चले जाते है। उन्हें अविलम्ब ही सत्पथ बताने की आवश्यकता है। कृपा कर अब आप मुझे न रोकें। शीघ्र दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दे। ममता की मूर्ति माता जी से भी मेरी यही प्रार्थना है।"

महाराज अश्वसेन और वामादेवी ने बहुत समझाया-बुझाया पर अन्त में जब कुमार को अपने संकल्प पर सुदृढ़ पाया तब उन्होंने दीक्षा लेनेकी आज्ञा दे दी। कुमार को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वर्षी दान देना आरंभ कर दिया। सनाथ, अनाथ दीन-हीन, जो भी कोई याचना करने आया। उसे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान में देने लगे। इन्द्र ने, कुबेर को पार्श्व कुमार का कोष भर देने की आज्ञा दी। कुमार प्रतिदिन कोष भर देता और कुमार प्रति दिन दान कर देता। यह क्रम अविच्छिन्न रूप से एक वर्ष तक चलता रहा। इसी समय मे कुमार ने अपने संयम जीवन के लिए विशेष तैयारी कर ली। उन्होंने अपने जीवन को अत्यंत संयत निरुपाधिक और सादगी पूर्ण बना लिया।

निष्क्रमण

एक वर्ष व्यतीत होगया। दीक्षा ग्रहण करने का शुभ प्रसंग आ पहुँचा। महाराज अश्वसेन ने राजसी वैभव के अनुकूल दीक्षा-महोत्सव की तैयारी की। एक विशाल और सुन्दर शिविका सजाई गई। उसमें एक बहुमूल्य सिंहासन पर कुमार विराजमान हुए। चन्द्रमा के समान उज्वल रत्नजटित छत्र उनके मस्तक पर

सुशोभित हो रहा था। दोनो ओर चँवर ढोरे जा रहे थे। चँवर एकदम स्वच्छ-उज्वल थे। जैसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान हों। शिविका के आगे वन्दी-वृन्द जयजयकार करता हुआ चल रहा था। सजल मेघ के समान गंभीर ध्वनि करने वाले तरह-तरह के वाद्यों की ध्वनि से सारा नगर व्याप्त होगया था। कुलीन स्त्रियां मंगलगान गाती चल रही थी। चँवर-छत्र आदि राजचिह्नो से युक्त महाराज अश्वसेन हाथी पर सवार होकर चल रहे थे। धीरे-धीरे चलती हुई सवारी नगर के मध्य भाग मे पहुंची। नागरिक जन इतनी उत्कठा से सवारी देखने के लिए इकट्ठे हुए जैसे कोई अद्भुत-अदृष्टपूर्व आश्चर्य देखने के लिए आते हैं। कोई-कोई सवारी का मनमोहक दृश्य देखने के लिए मकानो की ऊंची छत पर चढ़ गये, जैसे ठंड से सताये हुए वानर वृक्ष के ऊपरी भाग पर चढ़ जाते है। काई इकट्ठे होकर कुमार के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे, जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर देखते है। वहुतेरे लोग मार्ग के दोनो ओर कतार वाध कर खड़े होगये। जैसे एक लोक से दूसरे लोक मे जाने वाले सूर्य के साथ उसकी रश्मिया चली जाती है उसी प्रकार नागरिक जन भगवान् के साथ-साथ जाने लगे। इसी प्रकार स्त्रिया भी झुण्ड-के-झुण्ड वनाकर कुमार की छवीली मूरत देखने लगी। जैसे ज्ञानपाल की आवाज सुनकर वानरी अपने वच्चे को पेट से

से भ्रमण के लिए निकला जिसमें प्रभु पार्श्वनाथ विराजमान थे। उद्यानपाल ने राजा को भगवान् का वृतान्त कहा। वह बोला—'अन्नदाता! महाराज अश्वसेन के सुपुत्र पार्श्व इसी उद्यान मे विराजते हैं और तप तथा संयम का आचरण करते हैं।' राजा प्रभु की सेवा में उपस्थित हुआ। राजकुमार को ऐसी कठिन साधना मे निमग्न देख पहले-पहल तो उसे आश्चर्य हुआ। फिर कुछ अधिक विचार करने पर मालूम हुआ, कि पहले भी मैंने ऐसे मुनि कहीं देखे हैं' इस प्रकार विचारते-विचारते राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। इस विशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न होते ही जसके नेत्रों पर पड़ा हुआ पर्दा मानों हट गया। उसे अपने पूर्वजन्म साफ-साफ दिखाई देने लगे। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' अर्थात् चेहरे पर उदित होने वाले भाव मन का रहस्य प्रकाशित कर देते हैं, इस नीति के अनुसार राजा को विचारों मे तल्लीन देखकर मंत्री ने उसके विचारों को ताड़कर पूछा—'महाराज! क्या आपको कोई नई बात ज्ञात हो रही है?' राजा ने कहा 'हां मंत्री, अभी-अभी पार्श्व प्रभु पर दृष्टि पड़ने से मुझे एक अद्भुत ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसा ज्ञान मुझे कभी नहीं हुआ इस ज्ञान के प्रभाव से मैं अपने पूर्व भवों को जान रहा हूँ।' मंत्री ने विशेष जिज्ञासा प्रकट की तो राजा कहने लगा—

इसी भारतवर्ष मे वसंतपुर नामक एक नगर है। उस नगर मे निमित्त शास्त्र का एक धुरधर विद्वान् दत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। उसे कर्मोदय के कारण कुष्ट व्याधि हो गई। इस व्याधि से वह अत्यन्त दुखी रहता था। उसने बड़े-बड़े चिकित्सकों से बहुत प्रकार की चिकित्सा कराई पर आरोग्य-लाभ न हुआ। उसका शरीर सड़ रहा था। सारा शरीर घिनौना और

दुर्गंधित हो गया था। घर वालों ने पहले तो उसकी तन-मन से सेवा की पर उसे निरोग न होते देख अन्त मे उनका जी ऊब गया। उसे भाग्य के भरोसे पर छोड़कर सब लोग अपने-अपने काम में लग गये। विद्वान ब्राह्मण के हृदय पर इस घटना ने तीव्र आघात किया। उसने जीवन को कष्ट-संकुल समझ कर मृत्यु का शरण लेना उचित समझा। सोच-विचार कर वह घर से निकल पड़ा। 'गंगा में मरने से सद्गति-लाभ होता है' इस लोक प्रवाद के अनुसार उसने अपना शरीर गंगा को अर्पण कर देने का विचार किया। वह गंगा के तट पर पहुँचकर कूद पड़ने का उपक्रम कर ही रहा था कि इतने में विहार करते हुए मुनिराज वहां आ पहुँचे।

मुनिराज ब्राह्मण की चेष्टाएँ देख उसके अन्तःकरण का भाव समझ गये। उन्होंने कहा—"भाई! क्यों यह अनर्थ कर रहे हो? आत्मघात करना घोर पाप है। इस पाप मे फँसने वाला प्राणी भविष्य मे और अधिक दुःख पाता है दुःखों से मुक्त होने के लिए आत्मघात का मार्ग ग्रहण करना जीवन के लिए विषपान करने के समान और सौन्दर्य का निरीक्षण करने के लिए आंखें फोड़ डालने के समान विपरीत प्रयास है। दुःख अकस्मात पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के उदय के बिना नहीं होते। आत्मा उन कर्मों का उपार्जन करता है। अतः आत्मा के साथ ही कर्मों का बंध होता है तुम यह जानते हो, कि शरीर और आत्मा एक नहीं हैं। शरीर का परित्याग कर देने पर भी पाप कर्म उपार्जन करने वाला आत्मा तो बना हुआ ही है। जब आत्मा विद्यमान रहेगा तो उसके साथ अशुभ कर्म भी विद्यमान रहेंगे। शरीर का त्याग करने पर आत्मा जिस नवीन पर्याय को धारण करेगा उसी पर्याय मे कर्म

भी उसके साथ बंधे रहेंगे। ऐसी स्थिति में शरीर का त्याग कर देने से कुछ भी लाभ होना संभव नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है, कि जिस शूरता के साथ वह कर्मों का उपार्जन करता है, उसी शूरता के साथ उनके विपाक को भोग करे। अशुभ कर्मों से पिंड छुड़ाने का यही उपाय है। इस उपाय का आलम्बन न करके शरीर का अंत कर देने का विचार करना कायरता है, अविवेक है। इसके अतिरिक्त आत्मघात-जन्य पाप की भयंकरता का भी विचार करना चाहिए। पहले के अशुभ कर्म आत्मघात से नष्ट नहीं हो सकते और नवीन दारुण कर्मों का बंध हो जाता है। परिणाम में कष्टों की मात्रा अत्यधिक बढ़ती है। एक बात और भी है। अनुकूल परिस्थिति में मनुष्य की शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उन शक्तियों का विकास न होकर ह्रास होता है। प्रतिकूल परिस्थिति में आत्मिक शक्तियों के विकास की पर्याप्त गुञ्जाइश रहती है। दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुष प्रतिकूलताओं की चट्टानों से टकरा कर कभी निराश नहीं होते। वे अपने लक्ष्य की ओर अधिकाधिक अग्रसर होते जाते हैं और अपनी अमोघ संकल्प-शक्ति के द्वारा अन्त में समस्त विघ्नों, बाधाओं एवं प्रतिकूलताओं को चूर्ण-विचूर्ण कर डालते हैं। अतएव प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होना चाहिए बल्कि अपनी शक्तियों को संवर्धित करने के लिए उनका स्वागत करना चाहिए और सच्चे योद्धा की भाँति उन का सामना करना चाहिए। अतएव तुम यह घोर पाप न करो। नमोकार मंत्र संसार के समस्त मंत्रों में उत्तम और कल्याणकारी है। उसका जाप करो। विषम दृष्टि का परित्याग करो।'

ब्राह्मण ने मुनिराज का उपदेश प्रेम से सुना, समझा और स्वीकार किया। उसने महामंत्र को तत्काल सीख लिया और सदा

उसका जाप करने लगा।

कुछ दिन व्यतीत हो जाने के बाद दत्त ब्राह्मण फिर उन्हीं मुनिराज की सेवा में उपस्थित हुआ। दत्त जिस समय मुनिराज के पास पहुंचा उस समय वहां एक पुष्कली नाम के श्रावक बैठे थे। श्रावक ने दत्त ब्राह्मण की ओर देखकर मुनि से पूछा—'आर्य! यह ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर किस योनि मे जन्म लेगा?

मुनिराज ने कहा—श्रमणोपासक! इसने पहले ही आयु का बंध कर लिया है। उस बंध के अनुसार यह मृत्यु के पश्चात् राजपुर मे मुर्गे के रूप में जन्म ग्रहण करेगा। आयु बंध होने पर कोई कितना ही प्रयत्न करे, कैसी भी कठोर साधना के पथ को ग्रहण करे, पर वह बंध छूट नही सकता। अतएव विवेकशील पुरुषों को चाहिए कि वे सदा ही अपने अध्यवसायों को शुद्ध रक्खे। सम्पूर्ण आयु के दो भाग समाप्त होने पर जब तीसरा भाग अवशिष्ट रहता है तब आयु का नवीन बंध होता है। कारणों की अपूर्णता होने से यदि उस समय आयु का बंध न हो तो अवशिष्ट आयु के दो भाग समाप्त होने पर तीसरा भाग शेष रहने पर आयु का बंध होता है। यदि उस समय भी कारणों की विकलता से बंध न हुआ तो फिर उसी प्रकार तीसरे भाग मे आयु बंध होता है। कभी-कभी मृत्युकाल मे बंध होता। इससे यह जान पड़ता है कि आयुबंध के समय को छद्मस्थ जीव जान नहीं सकता। संभव है थोड़ी देर के लिए परिणामों मे मलिनता उत्पन्न हो और उसी समय नवीन आयु बंध जाय। अतः क्षणभर भी मनुष्य को असावधान न रहकर निरन्तर प्रशस्त परिणामो मे वर्तना चाहिए। कर्मों का एकच्छत्र साम्राज्य है। सारा संसार इनके वशीभूत

हो रहा है। कर्मों के आगे राजा-रंक, सधन-निर्धन, सबल-निर्बल किसी की नहीं चलती। कैसे देखते-देखते राजा को रंक, सधन को निर्धन और सबल को निर्बल बना डालते हैं। परन्तु आत्मा की शक्ति कर्मों से कम नहीं है। वह अपने स्वरूप को समझे, अपनी शक्तियों को पहचाने और आत्मविकास के लिए उग्र प्रयत्न करे तो अन्त में उसी की विजय होती है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव जैसे त्रिलोकवंद्य महापुरुष को कर्मों के वश होकर एक वर्ष तक आहार न मिला। दाता थे, दान करने योग्य द्रव्य था, दाताओं की प्रभु पर असीम भक्ति थी, फिर भी उन्हें निराहार रहना पड़ा। यह कर्म का ही प्रताप था। अन्यथा जो लोग आदिनाथ के सामने हीरा-मोती आदि रत्न, हाथी-घोड़े आदि सवारियां, उत्तमोत्तम वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएँ लेकर सामने आते थे, उन्हें भेंट देकर कृतार्थ होना चाहते थे, वही दाता क्या उन्हें आहार नहीं दे सकते थे? पर पूर्वोपार्जित कर्म का उदय होने से दाताओं को निरवद्य मुनि-जन-भोग्य आहार देने की कल्पना ही नहीं आती थी। वे ऐसे उत्तम और महान् पुरुष को भोजन जैसी सामान्य वस्तु देने में उनका अपमान समझते थे। जब प्रभु आदिनाथ ने कर्मों का कर्ज चुका दिया तब उन्हें आहार की प्राप्ति हुई।

जब परम पुरुष आदिनाथ जैसों को कर्म का फल भोगना पड़ा तो औरों की क्या गिनती है? दूसरे फल-भोग के बिना कैसे छूट सकते हैं? दत्तजी ने भी कर्म-बंध कर लिया है। वह बंध अब बिना भोगे मिट नहीं सकता। वह तो भोग लेने पर ही छूटेगा। पर उन्होंने महामंत्र का जाप करके जो पुण्य उपार्जन किया है उसका फल भी मिट नहीं सकता। मुर्गा पर्याय का

परित्याग करने पर यह उसी राजपुरी में ईश्वर नामक राजा होंगे। राजा की अवस्था में इन्हें भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होगा। भगवान् का पवित्र दर्शन होने से इन्हें जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त होगा और उससे दत्तजी अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्त को जान लेंगे।"

राजा ईश्वर कहने लगे—'मंत्री जी! अब से तीसरे भव पहले मुनिराज ने अपने दिव्य ज्ञान में देखकर जिस भविष्य का कथन किया था, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ है। आज मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो गया है। सच है—निर्ग्रंथ मुनिराजों का कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। वे परम ज्ञानी, परम संयमी और परम हितैषी होते हैं। धन्य है इन महा-पुरुषों को जो ससार के उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों को तिनके की भांति त्याग कर इस साधना को अंगीकार करते हैं। स्याद्वादमय धर्म भी धन्य है जो वस्तु-स्वरूप को यथार्थ निरूपण करके जनता की जिज्ञासा का उपशमन करता है, कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करता है और अन्त मे समस्त दुखो से छुड़ाकर सर्व-श्रेष्ठ सिद्धपद पर आसीन करता है।"

इस प्रकार अपने आन्तरिक उद्‌गार निकाल कर राजा ने प्रभु को प्रसन्न और भक्तियुक्त चित्त से वन्दना की और अपने महल मे लौट आया।

उपसर्ग

परम-पुरुष पार्श्वनाथ राजपुर से विहार कर आगे पधारे। उपनगर के बाहर तापसों का एक आश्रम था। जब भगवान् आश्रम के पास होकर पधार रहे थे तब सूर्यास्त होने लगा।

भगवान् एक कुएँ के सन्निकट वट-वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर खड़े रह गये। भगवान् का अनेक जन्मों का विरोधी मेघमाली देव वहां आ पहुँचा। भगवान् को देखकर उसे प्रचंड क्रोध आया। उसने विकराल हाथी का रूप बनाया और भूतल को विकंपित करता हुआ, दिशाओं को बधिर करने वाली चिंघाडने की ध्वनि करता हुआ प्रभु की ओर लपका। उसने प्रभु को अपनी सूंड में पकड लिया। अनेक प्रकार के कष्ट दिये पर भगवान् सुमेरु की तरह अचल बने रहे। उन्होंने भौतिक शरीर के प्रति ममत्व का भाव त्याग दिया था। शरीर में रहते हुए भी वे शरीर से मुक्त थे। जैसे मकान के ऊपर चोट होने पर भी मकान में रहने वाला व्यक्ति वेदना का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह मकान को अपने से भिन्न मानता है उसी प्रकार जो योगी शरीर को आत्मा का निवासस्थान मात्र समझते हैं, उससे ममता हटा लेते हैं, उन्हें भी शरीर की वेदनाएं वैसी नहीं जान पडतीं जैसे इतर प्राणियों को जान पड़ती है। इसी कारण भगवान पार्श्वनाथ को मानो वेदनाओं ने स्पर्श भी नहीं किया। वे अपने ध्यान में मग्न रहे। देव पराजित हो गया।

पराजय से व्यक्ति या तो दीनता धारण करता है या उसका क्रोध और भी प्रचंड हो जाता है। देव पराजित होकर और अधिक प्रचंड हुआ। उसने सिंह, व्याघ्र और चीते के रूप धारण करके दहाड मारी। भगवान को भयभीत करने का प्रयत्न किया, कष्ट दिये, पर उसकी दाल न गली। अन्त में उसे निष्फलता मिली। पर देव की दुष्टता इतनी ओछी न थी कि वह शीघ्र समाप्त हो जाती। वह और ज्यादा झल्लाया, खिसियाया। उसने अबकी बार अत्यन्त भयंकर भुजंग का रूप बनाया। साथ ही

बड़े-बड़े जंगली बिच्छुओं के अनेक रूप बनाये। सबने मिल कर एक साथ प्रभु पर आक्रमण किया। देव ने समझा-अबकी बार पार्श्वनाथ अवश्य भयभीत हो जाएंगे और घोर वेदना का अनुभव करेंगे। पर करोड़ों देवों की शक्ति से भी अधिक शक्ति के धारक भगवान् के लिए देव द्वारा दिये जाने वाले कष्ट बालक का खिलवाड़ था। उनके ऊपर देवता के किसी भी आक्रमण का प्रभाव नहीं हुआ। वे यथापूर्व अवस्थित रहे। उनके चेहरे पर वही अपूर्व शान्ति और सौम्यता क्रीडा कर रही थी। उनकी ध्यान-मुद्रा जैसी की तैसी थी।

धरणेन्द्र जैसे इन्द्र और देवगण भगवान् के क्रीत दास थे। वे सदा भगवान् के इशारे पर नाचने को उद्यत रहते थे। भगवान् यदि इच्छा करते तो तत्काल ही इन्द्र उनकी सहायता के लिए दौड़ा आता। पर नहीं, तीर्थंकर दूसरों के पुरुषार्थ का आश्रय नहीं लेते। वे आदर्श महापुरुष हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही विजय प्राप्त करते हैं। वे अपने लोकोत्तर पुरुषार्थ द्वारा ही इतर प्राणियों के समक्ष महान आदर्श उपस्थित करते हैं। आत्मिक विजय दूसरे की सहायता से मिलती भी नहीं है।

सर्प और बिच्छू रह-रह कर बार-बार अपनी तीखी दाढ़ों से तथा डंकों से भगवान् पर प्रहार करने लगे। उन्होंने अपनी समझ में कुछ भी कसर न उठा रखी। पर उन्हें जान पड़ा जैसे हम चट्टान से टकरा रहे हैं। हमारे प्रयास सर्वथा व्यर्थ जा रहे हैं। इस प्रकार भगवान् की निश्चलता देखकर देव भी चकित रह गया। उसने ऐसे वज्र-हृदय पुरुष की कल्पना भी न वह सोचने लगा-आखिर यह क्या रहस्

में इतना सामर्थ्य हो सकता है ? देव को पराजित कर देने वाला मनुष्य भी क्या इस भूमि पर होना संभव है ? ऐसा न हो तो क्या कारण है कि यह योगी पर्वत की भाँति उन्नत भाल किये खड़ा है। इतनी वेदनाओं का इस पर अणु बराबर भी प्रभाव नहीं पड़ा। देखूँ, एक बार और प्रयास करूँ। इस प्रकार विचार कर उसने भगवान् को पानी मे बहा देने का विचार किया। वह मेघमाली तो था ही, आकाश सजल मेघों से मढ़ गया। बिजली गड़गड़ाने लगी। मूसलधार वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर मे इधर-उधर चारों ओर पानी-ही-पानी दिखाई देने लगा। जितने जलाशय थे जल से लबालब भर गये। खेत सरोवर बन गये। कूपों के उपर होकर पानी बहने लगा। भगवान् के घुटनो तक पानी आ गया। मगर वे अकम्प थे। थोड़ा समय और व्यतीत हुआ। उनकी कमर पानी मे डूब गई। पानी बरसना बन्द न हुआ। ऐसा मालूम होने लगा मानों आकाश फट पडा हो। अब भगवान् के वक्षस्थल तक पानी आ पहुँचा था। थोडी ही देर बाद उनके मुह तक पानी पहुँच गया। फिर भी भगवान् की ध्यान मुद्रा ज्यो-की-त्यों अविचल थी। भगवान, मेघमाली देव द्वारा होनेवाले इन भयकर उपसर्गों को सहन कर रहे थे। उनके मन मे प्रतिहिंसा का भाव रचमात्र भी उदित नही हुआ। वे पूर्ववत् समता रूपी अमृत के सरोवर मे आकण्ठ निमग्न थे। वैषम्य भाव उनके पास भी न फटकने पाता था।

भगवान् के मुख तक पानी आ पहुँचा तब पूर्व परिचित धरणेंद्र का आसन काँप उठा। आसन काँपने से उपयोग लगाने पर उसे मालूम हुआ कि मेरे परमोपकारी परम कृपालु भगवान्

पार्श्वनाथ पर उपसर्गों की घनघोर घटा घहरा रही है। यह ज्ञात होते ही वह पद्मावती के साथ स्वर्ग से रवाना हुआ और भागा-भागा प्रभु के पास पहुँचा। उसने तत्काल ही भगवान् के पैरों तले एक सुन्दर कमल बनाया और ऊपर सर्प के फनों जैसा छत्र बना दिया। इस प्रकार भगवान् जल के उपसर्ग से मुक्त होगये। फिर भी भगवान् मौनावलम्बन किये वीतराग भाव मे तल्लीन रहे। न तो मेघमाली के कर्तव्य पर उन्हें रोष हुआ और न धरणेन्द्र के कर्तव्य पर तोष ही हुआ। वे अपने समभाव की आराधना मे ही निमग्न रहे। पर कोई भी सच्चा भक्त अपने भगवान् के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को देख-सुनकर शान्त नही रह सकता। धरणेन्द्र से भी न रहा गया। उसने मेघमाली को बुरी तरह फटकारा। मेघमाली देव पहले ही अपनी घोर पराजय से लज्जित हो रहा था। ऊपर से धरणेन्द्र की डाट पड़ी तो बुरी तरह सकपकाया। धरणेन्द्र ने कहा—"दुरात्मन! तुझे मालूम है यह महापुरुष कौन है? तू अपनी दुष्टता प्रदर्शित करके उन्हे अपने पथ से डिगाना चाहता है! खद्योत क्या कभी दिवाकर की प्रचंड किरणों को पराजित करने में समर्थ हो सकता है? आध्यात्मिक शक्ति विश्व में सर्वोत्कृष्ट और अजेय है। उसके सामने कभी कोई न टिक सका है और न टिक सकेगा। तूने अपनी पाशविक शक्तियो का प्रदर्शन करके पापोपार्जन के अतिरिक्त और क्या फल पाया? भगवान् को पथभ्रष्ट करने का तेरा प्रयास वैसा ही है जैसे कोई अपने मस्तक की चोटों से सुरगिरि को भेद डालने का प्रयास करे, बौना पर्वत को लांघ जाने की हास्यास्पद चेष्टा करे और टोटा-लंगड़ा समुद्र को भुजाओ से पार करने का मनोरथ करे।

भगवान् अजेय हैं। वे विश्ववंद्य हैं। देव और देवेन्द्र उनके क्रीत दास है। वे अनन्त शक्तियो के भंडार हैं। क्या तुझे ज्ञात नही कि तू पूर्व जन्म का कमठ नामक तापस हूँ, मै तेरी धूनी के लक्कड़ मे जलने वाला सर्प हू और यह महाप्रभु तुझे प्रतिबोध देने वाले और मुझे नमोकार मंत्र का श्रवण कराने वाले वही पार्श्व हैं ? ऐसे महान उपकारी महापुरुष के प्रति तेरी यह जघन्य भावना और यह निन्द्य व्यवहार! खबरदार, भविष्य मे ऐसा कुकृत्य किया तो पूरी खबर ली जायगी।'

धरणेन्द्र का कथन सुनते ही मेघमाली मानो लज्जा से गड़ गया। उसमे बोलने का सामर्थ्य न रहा। उसने सारी माया तत्काल समेट ली और प्रभु के चरण-कमलो पर जा गिरा। वह गिड़गिड़ा कर बोला—"नाथ! आप क्षमा के सागर है। वीतरागता और साम्य-भाव के भण्डार हैं। पतितो को पावन करने वाले परम दयालु है। मुझे क्षमा प्रदान कीजिए। मै बड़ा पापी हूँ। मैने अज्ञान और कषाय के वश होकर आपके प्रति जो दुर्व्यवहार किया है उससे मै पश्चाताप की अग्नि मे जल रहा हूँ।"

वास्तव मे मेघमाली की क्षमा-प्रार्थना व्यर्थ थी। इसलिए नही कि उसे क्षमा नहीं मिली। बल्कि इसलिए कि भगवान् के अन्त.करण मे द्वेष का लेश भी न था। वे पहले-से ही उस पर क्षमा-भाव धारण किये हुए थे। भगवान् के हृदय-पटल पर यह भाव सदा अंकित रहते थे:—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ ण केणई॥

अन्त मे मेघमाली क्षमा-याचना के पश्चात् अपने स्थान

पर चला गया। भगवान् के उपसर्ग का अन्त हो गया जानकर धरणेन्द्र भी पद्मावती के साथ अपनी जगह चला गया। भगवान् ने वह रात्रि ध्यानावस्था में वहीं समाप्त की।

केवलज्ञान

सूर्योदय होने पर भगवान् ने वाराणसी नगरी की ओर प्रस्थान किया। वाराणसी में पहुँच कर नगरी के बाहर एक उद्यान में विराजमान हुए। तेरासी दिन प्रभु ने छद्मस्थ अवस्था में निर्गमन किये। चौरासीवा दिन आरम्भ हुआ। चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन और विशाखा नक्षत्र था। भगवान् ने अत्यंत उज्वल ध्यान धारण किया। उस ध्यान के प्रभाव से ससार रूपी वृक्ष के बीज, संसार के जीवो को नाना गतियो में भ्रमण कराने वाले और दुर्जय मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो गया। मोह रूपी महामल्ल को पछाडते ही अन्तर्मुहूर्त के भीतर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों की त्रिपुटी का विनाश हो गया। इस प्रकार चारों घन घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से प्रभु में अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त शक्ति का आविर्भाव हो गया। अब तक भगवान चार क्षायोपशामिक ज्ञानो के धारी थे। अब सब ज्ञान केवल ज्ञान के रूप में परिणत हो गये। अत. एक केवल ज्ञान ही शेष रह गया। इसी प्रकार समस्त क्षायोपशमिक दर्शन केवल दर्शन के रूप में परिणित हो गये। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, और मति श्रुत आदि ज्ञान उस ज्ञान गुण की पर्याये है। केवल ज्ञान रूप पर्याय का आविर्भाव होने से दूसरी पर्यायो का विनाश होगया। ज्ञान सम्बन्धी विवरण इस प्रकार है —

पांच ज्ञान

ज्ञान आत्मा का एक धर्म है। वह धर्म आत्मा की तरह ही अनादि और अनन्त है। यद्यपि मोहनीय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशम के कारण ज्ञान गुण विभिन्न पर्यायो मे परिणत होता है फिर भी वह अपने मूल स्वभाव से कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है।

आत्मा जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से युक्त होता है तब उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान मे सत्-असत और हेयोपादेय की विवेचना करने का सामर्थ्य नही होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही आत्मा की दृष्टि निर्मल हो जाती है और उस समय ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान मे अपूर्व शक्ति है। मिथ्याज्ञान के द्वारा कर्म-बंधन मे जकड़ा हुआ आत्मा सम्यग्ज्ञान द्वारा ही मुक्त होता है। करोड़ो वर्ष तपस्या करके अज्ञानी जीव जो कर्म क्षीण नहीं कर पाता उन कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञानी जीव क्षण भर मे कर डालता है। आगम मे कहा है—

अन्नाणी किं काही? किं वा नाही छेयपावगं?

अर्थात् अज्ञानी जीव बेचारा क्या कर सकता है? वह हिताहित को क्या समझ सकता है? नहीं।

पदार्थ को सम्यक् रूप से यथार्थ जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के आगमो मे पांच भेद किये गये है—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन. पर्ययज्ञान

(५) केवलज्ञान। यहाँ इन पाँचो ज्ञानों का संक्षिप्त स्वरूप लिख देना उचित होगा।

मतिज्ञान

इन्द्रियो और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते है। इसके मूलतः चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा। दर्शनोपयोग के बाद, ज्ञानोपयोग मे सब से पहले, मनुष्यत्व आदि सामान्य का ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह के बाद संशय होता है। उस संशय को हटाते हुए जो कुछ विशेष ज्ञान होता है उसे ईहा ज्ञान होता है। जैसे—'यह महाराष्ट्रीय मनुष्य होना चाहिए' ईहा के पश्चात् आत्मा इस संबध मे और अधिक प्रगति करता है। उस समय वस्तु का पूरा निश्चय हो जाता है। जैसे—'यह महाराष्ट्रीय मनुष्य ही है।' इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय या अपाय कहते है।

जब हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उसका एक प्रकार का चित्र-सा हमारे हृदय-पट पर अंकित हो जाता है। कोई चित्र धुंधला होता है और कोई स्पष्ट होता है। इस चित्र का अंकित हो जाना ही धारणा है। जो चित्र जितना अधिक गाढ़ा होता है उसकी धारणा भी उतनी ही प्रगाढ़ होती है।

धारणा से ही स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है। हम अनुभव करते है कि कोई-कोई बहुत पुरानी घटना हमे ज्यो-की-त्यो याद रहती है और कोई-कोई ताजी घटना भी विस्मृति के अनंत सागर में विलीन हो जाती है। इसका कारण धारणा की प्रगाढ़ता और अगाढ़ता ही है। जो धारणा खूब प्रगाढ़ हुई हो उसके द्वारा अधिक समय व्यतीत हो चुकने पर भी स्मृति उत्पन्न हो जाती है

और जो धारणा दृढ़ न हुई हो वह स्मृति को उत्पन्न करने में असमर्थ रहती है। पूर्वजन्म के स्मरण की घटनाएँ इस समय भी सुनी जाती है और पूर्वकाल में भी होती थीं। कई विशिष्टतर धारणाशाली जीवों को अनेक पूर्वजन्मों का स्मरण हो जाता है। यह सब मतिज्ञान है।

पूर्वोक्त अवग्रह आदि चारों प्रकार के मतिज्ञान पांचों इंद्रियों से और मन से उत्पन्न होते हैं। अवग्रह कभी स्पर्शन-इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, कभी रसना-इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, कभी घ्राण से, कभी नेत्र से और कभी श्रोत्र से होता है तो कभी मन से भी होता है। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा भी सभी इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं। अतएव इन चारों के कुल ६×४=२४ भेद होते हैं।

यह चौबीसों प्रकार का मतिज्ञान, प्रत्येक बारह प्रकार के पदार्थों को जानता है। जैसे—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध अक्षिप्र, निसृत, उक्त और ध्रुव। इन बारह पदार्थों के कारण प्रत्येक मतिज्ञान के बारह-बारह भेद हो जाते हैं और चौबीसों के मिलाकर २४×१२=२८८ भेद होते हैं।

औत्पातिकी, वैनयिकी, पारिणामिकी और कार्मिकी, यह चार प्रकार की शास्त्रों मे वर्णित बुद्धियां भी मतिज्ञान का ही रूप हैं। मतिज्ञान के भेदो में इन्हें भी सम्मिलित कर दिया जाय तो ३४० भेद हो जाते है।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान उत्पन्न हो चुकने के बाद जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान, शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य संबंध को मुख्य करके शब्द से संबंध वस्तु को ग्रहण करता है। श्रुतज्ञान के विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक भेद है। मुख्य रूप से उसके दो भेद है—(१) अङ्गप्रविष्ट और (२) अङ्गबाह्य। तीर्थंकर भगवान् द्वारा साक्षात उपदिष्ट आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि बारह अगो को अथवा उनसे होने वाले अर्थबोध को अंग-प्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं और द्वादशांग के आधार पर निर्मित दशवैकालिक, नन्दी आदि सूत्रों तथा विभिन्न ग्रंथों से जो अर्थ-बोध होता है वह अंगबाह्य श्रुत है। श्रुतज्ञान के एक अपेक्षा से चौदह भेद भी हैं और बीस भेद भी हैं। विस्तार-भय से उनका उल्लेख यहां नही किया जाता है।

जैन सिद्धान्त मे मुख्य स्थान रखने वाला नयवाद श्रुतज्ञान का ही एक अग है। श्रुतज्ञान अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विषय करता है और नय उसके एक अंश-धर्म को ग्रहण करते है। आंशिक ग्रहण ही लोक व्यवहार मे उपयोगी होता है। नय ही अनेकान्त के प्राण है। जैनदर्शन मे अनेक स्थलों पर नयों की और अनेकान्तवाद की विशद विवेचना की गई है।

जब कोई व्यक्ति निर्बल हो जाता है तो वह बिना सहारे

चल-फिर नहीं सकता। उसके लिए लकड़ी आदि सहारे की आवश्यकता होती है। किन्तु जब वह अनुकूल उपचार द्वारा खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर लेता है तो उसे सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार जो आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों के तीव्र उदय से अत्यन्त हीन-सत्व हो जाता है वह ज्ञान-स्वभाव होने पर भी बिना दूसरों की सहायता के वस्तु को नहीं जान पाता। अतएव उसे इन्द्रियों की और मन की सहायता लेनी पड़ती है। यही कारण है कि पूर्वोक्त मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय-मन-सापेक्ष है और इसी से उन्हें परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अवधि, मन. पर्याय और केवलज्ञान के समय आत्मा में ज्ञान-शक्ति का अधिक विकास हो जाता है अत इनमें किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं होती। यह तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष है अर्थात् साक्षात् आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का है—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मन. पर्याय ज्ञान विकल और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। विकल प्रत्यक्ष समस्त वस्तुओं को नहीं जान सकते किन्तु सकल प्रत्यक्ष अर्थात् केवलज्ञान तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों को एक ही साथ हस्तामलकवत् स्पष्ट रूप से जानता है। तीनों का स्वरूप यह है—

अवधि ज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सिर्फ रूपी पदार्थों को मर्यादा के साथ जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसके दो भेद हैं—(१) भवप्रत्यय अवधिज्ञान और (२) क्षयोप-

समस्त गुणों मे समानता नही है। आत्मा ज्ञानमय और सुख-मय है, जड मे ज्ञान और सुखका सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार यदि परमात्मा और जीवात्मा में मौलिक भेद होता तो परमात्मा के समस्त गुण आंशिक रूप से जीवात्मा मे न होते। किन्तु दोनों के गुण एक हैं अतः दोनों मे मौलिक भेद नही है। जो भेद है वह तो मात्रा का भेद है। परमात्मा मे गुणों का परिपूर्ण विकास हो चुका है और जीवात्मा मे गुण अबतक आच्छादित हो रहे है। आत्मा शनैः शनैः विकाश करता हुआ अपने गुणो के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर लेता है तब वही परमात्मा की कोटि में जा पहुंचता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा मे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनने की शक्ति विद्यमान है।

जो पुण्यशील पुरुष-पुङ्गव आत्म विकास के पथ का अनुसरण करते है उन्हे भगवान् पार्श्वनाथ की भांति ही परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

समवसरण

भगवान् को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तो नर-नारी और देव-देवियोने खूब उत्सव मनाया। उस समय समवसरण की रचना की गई। समवसरण खूब विशाल, सुन्दर और दर्शनीय था। समवसरण के भीतर अशोक वृक्ष के नीचे एक सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुए। उनके मस्तक पर एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा, इस प्रकार तीन छत्र सुशोभित हुए। भामंडल की शोभा अनूठी थी। महेन्द्रध्वजा फडकती हुई भगवान् की अपूर्व कर्म-विजय की सूचना दे रही थी। आकाश मे देव दुन्दभि बजा रहे थे।

समवसरण में मनुष्य, तिर्यञ्च और देव सभी के लिए पृथक्-पृथक् स्थान नियत थे। सब यथास्थान बैठ गये। सब की दृष्टि भगवान् के मुख कमल पर गडी हुई थी। दिव्य प्रभाव के कारण चारों ओर बैठे हुए दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था जैसे भगवान् का मुख उन्ही की ओर हो। साधु साध्वियां और वैमानिक देवियां अग्निकोण मे बैठे थे। भवनपति वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवों की देवियां नैरूत्य कोण मे तिर्यञ्ची और तीनो प्रकार के देव वायव्य कोण में बैठे थे। वैमानिकदेव, मनुष्य, तिर्यंच और स्त्रियां ईशान कोण में थे। इस प्रकार बारह प्रकार की परिषद् समवसरण में उपस्थित थी।

भगवान के समवसरण में सब मनुष्यो को स्थान दिया गया था और वह स्थान भी अलग-अलग नही बल्कि सब को एक ही था। ब्राह्मण आदिको को शूद्रों से पृथक् स्थान नही मिला था। वास्तविक बात यह है कि स्पृश्य-अस्पृश्य की कल्पना धर्म के क्षेत्र मे नही है। किसी समय यह कल्पना व्यावहारिक क्षेत्र मे उत्पन्न होगई और वह धीरे-धीरे बढ़ती गई है। इस कल्पना का आधार जो लोग धर्म बतलाते है वे धर्म के वास्तविक रूप को समझते नही है। अस्पृश्यता एक भाव ही कहा जा सकता और जितने भाव होते है वे सब कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होते है या पारिणामिक होते है। अस्पृश्यता यदि वास्तव मे मानी जाय तो वह किस भाव मे अन्तर्गत होगी? आगम के अनुसार भावो की सख्या नियत है और उसमे अस्पृश्यता का समावेश नही हो सकता। कोई भी कर्म जैनागम मे ऐसा नही है, जिसके उदय से जीव अस्पृश्य बन जाता हो। अत अस्पृश्यता औदयिक भाव नही है।

प्रश्न—नीच गोत्र के उदय से जीव अस्पृश्य होता है, अतः अस्पृश्यता औदयिक भावों के अन्तर्गत क्यों न मानी जाय ?

उत्तर—नीच गोत्र का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लेने पर यह प्रश्न नहीं हो सकता। नीच गोत्र लोक मे अप्रतिष्ठित कुलों मे जन्म का कारण होता है, न कि अस्पृश्यता का। यदि नीच गोत्र को अस्पृश्यता का कारण माना जाय तो जिन-जिन के नीच गोत्र का उदय हो उन सबको अस्पृश्य मानना चाहिए। समस्त पशुओं के नीच गोत्र का उदय होता है तो गाय, बैल, घोड़ा, भैंस आदि सब पशु अस्पृश्य होने चाहिए। पर उन्हे अस्पृश्य नहीं माना जाता। बड़े-बड़े, शौच-धर्म-धारी पशुओं का दूध पीते है, घोड़े पर सवारी करते है, यहां तक कि गाय की पूजा भी की जाती है। तब फिर अस्पृश्यता मनुष्यो तक ही क्यो परिमित है ?

अस्पृश्यता इसी प्रकार किसी कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से भी नहीं उत्पन्न होती। पारिणामिक भाव सब नित्य होते है। अस्पृश्यता को पारिणामिक भाव के अन्तर्गत मानी जाय तो वह भी नित्य होगी। पर वह नित्य नही है। एक अस्पृश्य गिना जाने वाला चांडाल उत्तर जन्म में ब्राह्मण बन कर स्पृश्य हो जाता है और स्पृश्य ब्राह्मण चांडाल होकर अस्पृश्य कहलाने लगता है। इस कथन से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है, कि धर्म मे जातिगत भेद को कोई स्थान नही है। अनेक महात्मा चाडाल जाति से भी हुए है। वे उसी प्रकार वन्दनीय है जैसे अन्य जातीय महात्मा। जाति का अहंकार करना सम्यक्त्व का एक मल है। जिसमे जाति संबधी अभिमान होता है उसका सम्यक्त्व कलंकित हो जाता है। भगवान् तीर्थंकर त्रिलोक-त्राता और विश्वोपकारी है। उनकी धर्मोपदेश

सभा मे भला मनुष्य-मात्र को क्यों न स्थान प्राप्त होता ?

समवसरण की रचना और नर-नारी तथा देव-देवियों के आगमन का दृश्य देखकर उद्यानपाल चकित रह गया। वह भागा-भागा महाराज अश्वसेन के समीप पहुँचा और प्रभु के आगमन का, समवसरण की रचना का तथा श्रोताओं के दल के दल का समग्र वृत्तान्त सुनाया। उद्यानपाल के मुख से यह कल्याणकारी संवाद सुन कर राजा के अन्तःकरण मे आनन्द का महानद उमड़ पड़ा। उसने मुकुट के अतिरिक्त समस्त आभूषण अपने शरीर से उतार कर उद्यानपाल को शुभ संवाद सुनाने के उपलक्ष मे भेट कर दिये। उसी समय राजा ने अन्तःपुर मे जाकर वामा देवी को यह सुखद संवाद सुनाया और राज कर्मचारियों को प्रभु के दर्शनार्थ जाने की तैयारी शीघ्र कर डालने की आज्ञा दी। इधर अश्वसेन राजा तैयार हो गये, उधर वामादेवी और प्रभावती तैयार होगई। सब लोग राजप्रासाद से प्रस्थान कर उद्यान की ओर चले। जब वे उद्यान के इतने निकट पहुँच गये, कि समवसरण दिखाई पड़ने लगा तब महाराज सवारी से उतर पड़े। उन्होंने उत्तरासन किया तथा अन्य धार्मिक विधि की। तत्पश्चात् वे समवसरण मे पहुँच। प्रभु के दर्शन कर महाराज अश्वसेन, वामादेवी और प्रभावती का हृदय आनन्द से भर गया। महाराज अश्वसेन ने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर इस प्रकार स्तुति की:—"देवाधिदेव! आज हमारा अत्यन्त अहो भाग्य है, कि आपके समान साक्षात् परमपुरुष-परमात्मा के दर्शन प्राप्त हुए है। आज मेरा जीवन धन्य हो गया, मेरे नेत्र सफल हो गये और मेरा आत्मा पवित्र हो गया। नाथ! आप परम वीतराग है। आप घातिया

कर्मों की प्रबल सेना को जीत कर अनन्त चतुष्टय रूपी अक्षय लक्ष्मी के स्वामी बने है और जो अन्तःकरण से आपका शरण ग्रहण करते है वे भी इस लक्ष्मी के पात्र बन जाते है। जिनेन्द्र ! आप पतित-पावन है। संसार-सागर मे डूबते हुए प्राणियो के लिए अनुपम यान है। जीवों के लिए कल्याण-मार्ग का प्ररूपण करने वाले परम कृपालु, दीनानाथ, दीनवत्सल है। आपकी जय हो। स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान आपका नीलवर्ण शरीर ऐसा जान पड़ता है, जैसे सुमेरु पर्वत पर सजल जलद हो। वह भव्य जीव रूपी मयूरो को अत्यत आह्लाद उत्पन्न करता है। आपके मस्तक पर विराजित तीन छत्र रत्न त्रय के परम प्रकर्ष की सूचना दे रहे है। आकाश मे गरजती हुई देव दुन्दुभियां मानो यह घोषणा कर रही हे, कि आप ही क्रोध आदि कषायों के पूर्ण विजेता है। देव आकाश से गधोदक की वर्षा करके मानो अपने सम्यक्त्व-तरु का सिञ्चन कर रहे है। जाति-विरोधी पशु आपके पुण्य-प्रभाव से वैर-विरोध का परित्याग करके मित्रभाव से पास मे बैठे हुए है। आपकी अहिंसा, वात्सल्यता और समता भाव के प्रभाव से उनका घोर विरोध न जाने कहा अदृश्य हो हो गया है। देव ! आपने साधना के कठोर पथ मे प्रयाण करके अपनी असामान्य शक्ति व्यक्त की है और सफलता का सुन्दर आदर्श जगत् के समक्ष उपस्थित कर दिया है। आपके पथ का अनुसरण करने वाले सभी प्राणी आपकी ही भाति परमपद प्राप्त करेगे। नाथ ! आपकी जय हो विजय हो। सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से मै आपके चरण कमलो मे प्रणाम करता हू।"

इस प्रकार प्रभु की स्तुति करने के पश्चात् महाराज अश्वसेन अपने स्थान पर बैठ गये। महारानी वामादेवी और प्रभावती ने

भी अपना स्थान ग्रहण किया।

दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यायज्ञान जैसा दिव्य ज्ञान उत्पन्न हो चुका था फिर भी भगवान् ने कभी धर्म देशना नहीं दी थी। इसका विशेष कारण था और वह यह, कि केवल ज्ञान की उत्पत्ति से पहले ज्ञान अपूर्ण होता है। अपूर्ण ज्ञान से समग्र वस्तु-तत्त्वका यथार्थ संवेदन नहीं होता। वस्तु अनन्त है। एक-एक वस्तु में अनन्त-अनन्त गुण हैं और एक-एक गुण की अनन्तान्त पर्यायें क्रमशः होती रहती हैं। उन सबको केवल ज्ञान के बिना जानना असंभव है। बल्कि एक भी वस्तु पूर्ण रूपसे केवल ज्ञान के बिना नहीं जानी जा सकती। इसलिए आगम में कहा है—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।' अर्थात् जो एक वस्तु को अनन्त गुण-पर्याय रूप से जान लेता है वह पूर्ण ज्ञानी होने के कारण समस्त वस्तुओं को जान लेता है और जो समस्त वस्तुओं को जानता है वही पूर्ण रूपेण एक को जान सकता है। अतएव एक भाव को पूर्ण रूप से जानने के लिए भी केवलज्ञान अपेक्षित है। जो यद्वा तद्वा प्ररूपणा नहीं करना चाहता वह आत्मा में पहले पूर्ण ज्ञान के आविर्भाव के लिए प्रयास करता है। पूर्ण योग्यता उत्पन्न होने के पश्चात् की जाने वाली प्ररूपणा ही पारमार्थिक हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रभु जिस परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए देशना देते हैं, उसका साक्षात् उदाहरण जब तक जनता के सामने न हो तब तक जनता शंकित रह सकती है। अतः प्रभु पहले उस साधना का आचरण करके-उसे व्यवहार में लाकर फिर जनता को उसका उपदेश देते हैं। इससे वह उपदेश अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता है, उसके प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संदेह

नहीं रहता। इत्यादि कारणों से भगवान् ने कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व धर्मदेशना नहीं दी थी।

शंका—यदि केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले धर्मोपदेश देना उचित नहीं है, तो सामान्य मुनि धर्मोपदेश क्यों देते हैं?

समाधान—सामान्य मुनि मौलिक तत्त्व की स्थापना नहीं करते। वे तो अर्हन्त भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का ही अनुवाद करते हैं। सामान्य मुनियों का आगमानुकूल उपदेश अर्हन्त भगवान् की दिव्यध्वनि की एक प्रकार की प्रतिध्वनि है। अतः मुनि द्वारा किया जाने वाला आगमानुकूल उपदेश उचित ही है। उस उपदेश में स्वतः नहीं किन्तु आगमाश्रित या अर्हन्त भगवान् के उपदेश पर आश्रित प्रामाण्य है।

धर्म-देशना

केवल ज्ञान प्राप्त होने पर आज पहली बार भगवान् पार्श्वनाथ की धर्म-देशना प्रारम्भ हुई। भगवान ने इस आशय का उपदेश दिया.—

भव्य जीवो! अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो। अन्तर्दृष्टि प्राप्त किये बिना पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं होता। आत्मा स्वभाव से सिद्ध, बुद्ध, और अनन्त गुणों से समृद्ध होने पर भी क्यों नाना योनियों में भ्रमण कर विविध यंत्रणाओं का पात्र बन रहा है? इसका कारण अज्ञान है। जीव ने अज्ञान के वश होकर अपनी शक्तियों को विस्मृत कर दिया है। वह बहिरात्मा बन गया है। संसार के भोगोपभोगों में सुख की कल्पना करता है। इन्द्रियों का स्वामी पद-च्युत होकर इन्द्रियों का दास हो गया है। कर्मों ने आत्मा की असीम अनन्त शक्तियों को

आक्रान्त कर रखा है। ज्ञानावरण कर्म ने अनन्त ज्ञान शक्ति को परिमित, मलिन और विकृत बना दिया है। मोहनीय कर्म के कारण जीव की दयनीय दशा हो गई है। इसी प्रकार अन्यान्य कर्मों ने आत्मा के सर्वस्व के समान समस्त गुणों को स्वरूपच्युत बना डाला है।

भव्य जीवो! समझो, समझो। अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टिविक्षेप करो। देखो तुम्हारी अन्तरात्मा कितनी उज्ज्वल है, कितनी प्रकाशमय है, कितनी अद्भुत शक्तियों का पुञ्ज है। ज्ञान-दर्शन का असीम सागर तुम्हारे भीतर तरंगित हो रहा है। तुम अपूर्व ज्योतिस्वरूप हो, चित्-चमत्कारमय हो। अनन्त और असीम अव्याबाध सुख के तुम स्वामी हो। अपने स्वरूप को समझो। अपनी अन्तरदृष्टि खोलो, दृष्टि दूषित होने के कारण तुम्हे अभी पदार्थों जैसा स्वरूप ज्ञात हो रहा है, वह स्वरूप दृष्टि की निर्मलता प्राप्त होने पर सर्वथा निर्मूल दिखाई देगा। सांसारिक पदार्थ जो सुखद प्रतीत हो रहे हैं, वे वस्तुतः दुखद हैं। आत्मा की भव-परम्परा के कारण हैं। विषय विष है, बन्धु-बान्धव बंधन हैं, सम्पत्ति विपत्ति है, भोग रोग है, यह दृष्टि का नैर्मल्य प्राप्त होने पर ज्ञात हो जायगा। अतएव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो। सम्यग्ज्ञान का प्रचार करो। अज्ञान जीव का सब से भयंकर रिपु है। उसका उन्मूलन करो। ज्ञान प्राप्त करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय-क्षयोपशम होगा। केवलज्ञान प्राप्त होगा। यही आत्मा की सर्वोत्कृष्ट संपत्ति है। यही आत्मा का निज स्वरूप है। अतएव भद्र जीवो! आत्मा के स्वरूप की ओर देखो! समझो, समझो।

दान मोक्ष का प्रथम कारण है। अभयदान सब दानों मे श्रेष्ठ

दान है। भव-भ्रमण संबंधी भयों से अपनी आत्मा को सुरक्षित करना स्व-अभयदान है। मनुष्य को मनुष्य के भय से, विजातीय के भय से, आकस्मिक भय से, आजीविका आदि के भय से, अपयश एवं मृत्यु आदि के भय से मुक्त करना, इसी प्रकार मनुष्येतर प्राणियों को यथायोग्य निर्भय करना, अभयदान है। यह अभयदान आत्मा को सहज स्वरूप में-निजानन्द में ले जाता है। लोक में यश का विस्तार इससे होता है। वसंतपुर की रानी सौभाग्यसुन्दरी ने अभयदान द्वारा विपुल यश उपार्जन किया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

एक बार वसंतपुर के राजा के पास कोई हत्या का अभियुक्त आया। अभियोग प्रमाणित होने पर राजा ने उसे प्राणदंड सुना दिया। तिथि नियत कर दी गई। राज कर्मचारी अपराधी को राज महलों के समीप से ले जा रहे थे। महारानी की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसका विषण्ण और दैन्ययुक्त वदन देख कर रानी को दया उपजी। रानी ने कहला भेजा—आज इस अपराधी को प्राणदण्ड न दिया जाय। मेरी ओर से इसे आज यथेष्ट सुस्वादु भोजन दिया जाय और सौ रुपये भेंट में दिये जाएँ। किस का सामर्थ्य था जो रानी की आज्ञा के प्रतिकूल व्यवहार करता। अपराधी को सुमधुर पकवान खिलाये गये परन्तु खाते समय उसे यह भी न जान पड़ा, कि गुड़ खाता हूँ या गोबर खाता हूँ। उसका चित्त आगे खड़ी हुई मृत्यु की भयंकरता का नग्न चित्र देखने में संलग्न था। उसका समग्र उपयोग उसी ओर सिमट रहा था। जब उसके सामने रुपये रक्खे गये तो उसने रुपयों की ओर दृष्टि भी न डाली। जैसे अर्थ मोह को उसने सर्वथा त्याग दिया हो। दूसरा दिन हुआ। जब वह प्राण दण्ड के लिए

ले जाया जाने लगा तो दूसरी रानी ने रोक दिया। उस दिन भी उसे सुन्दर और मनोज्ञ भोजन कराया गया। दूसरी रानी ने उसे पांचसौ रुपये दिये इतना होने पर भी अपराधी के मन में तनिक भी शान्ति न हुई। तीसरे दिन तीसरी रानी ने उसका दण्ड रुकवा कर उसे एक सहस्र रुपये दिये। चौथे दिन चौथी रानी ने राजा से कहला भेजा कि मेरे दुर्भाग्य का उदय है अतः आपकी कृपादृष्टि से मै सर्वथा वचित हूँ। आपने मुझे अवगणित कर रक्खा है। फिर पहले आपने मुझे एक वर दे रखा है। मै आज वह वर मागती हूँ। मेरी याचना यह है, कि उस प्राणदंड-प्राप्त अपराधी को प्राणदंड से मुक्त कर दिया जाय।

राजा वचन वद्ध था। उसने चौथी रानी की याचना स्वीकार करके अपराधी को मुक्त करने का आदेश दे दिया। उस समय अपराधी की प्रसन्नता का पारावार न था। उसे जीते जी पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। वह मुक्त हो अपने पुत्र आदि सज्जनों से मिला।

संयोगवश राजा की कृपादृष्टि फिर उस चौथी रानी पर हो गई। इससे अन्य रानियां उससे जलने लगीं। एक बार उन सब ने मिल कर चौथी रानी का उपहास करना आरम्भ किया। एक ने कहा—'यह रानी तो हो गई, पर रानी का लक्षण इस मे एक भी नही है। वेचारे प्राणदंड-प्राप्त उस अपराधी को इसने एक भी दिन भोजन न कराया और न थोड़े-से रुपये ही दिये।' वात छिड गई। जब बात वहुत वढ़ गई, तो सारा अभियोग राजा के सामने उपस्थित हुआ। बड़े-बड़े रहस्यमय षड्यंत्रों को तत्काल समझ जाने वाला, अत्यन्त विद्वान और बुद्धिमान् नरेश इस झगड़े से बड़े असमंजस मे पड़ गया। किसे बुरा

कहे और किसे भला कहे ? जिसे बुरा कहना है वही रूठ जाती है, मुँह फैलाती है और झगड़ने के लिए तैयार हो जाती है। अन्त में राजा ने उसी अपराधी के ऊपर इस झगड़े के निर्णय का भार छोड़ दिया। अपराधी बुलाया गया। उससे राजा ने कहा—'चारों रानियों ने तुम्हारे ऊपर उपकार किया है। यह तो निर्विवाद है, पर पर विवादग्रस्त बात तो यह है, कि किस रानी ने सब से अधिक उपकार किया है ? इस विवाद का निपटारा तुम्हें करना है। बताओ तुम किसका उपकार सब से अधिक समझते हो ?' अपराधी ने कहा—'अन्नदाता ! प्रश्न अत्यंत सरल है और जितना सरल है उससे भी अधिक कठिन है। समस्त महारानियों ने मुझ पर अत्यन्त उपकार किया है। उसमें तरतमता करना मुझे अच्छा नहीं लगता। फिर भी राजाज्ञा से प्रेरित होकर मुझे निर्णय करना होगा। प्रथम तीन महारानियों ने मुझे पकवान खिलाये और रुपये भेंट में दिये। परन्तु मृत्यु की विभीषिका के सामने न मैं पकवानों का स्वाद ले सका, न रुपयों से ही मुझे प्रसन्नता हुई। उस समय जीवन का ही अन्त उपस्थित था, तो रुपये लेकर उनसे क्या करता ? चौथी महारानी ने न पकवान खिलाये, न रुपये दिये पर उन्होंने मुझे प्राणदान दिया है। इस दान से मुझे जो आनन्द हुआ उस का अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। अत क्षमा कीजिये। महाराज और महारानियो ! मैं चौथी महारानी के उपकार को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। मैं उनका आजीवन दास हूँ और आप सब का भी आजीवन कृतज्ञ हूँ। अपना जीवन देकर भी मैं उन से अनृण नहीं हो सकता। इतना कह कर भूतपूर्व अपराधी ने चौथी महारानी को प्रणाम करने के लिए अपना मस्तक

पृथ्वी पर झुकाया।

इस उदाहरण से अभयदान की महत्ता भली भांति समझी जा सकती है। सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ ने यह महान् पद अभयदान के ही प्रभाव से प्राप्त किया था। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है :—

राजा मेघरथ की दयाशीलता सर्वत्र विख्यात हो चुकी थी। वह सदैव इस बात का ध्यान रखते थे, कि उनके किसी व्यवहार से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचने पाए। इतना ही नहीं उनके राज्य मे भी जीवहिंसा का निषेध था। एक बार देवराज इन्द्र अपनी भरी सभा मे बैठे मध्यलोक का प्रकरण चलने पर इन्द्र ने राजा मेघरथ की दयालुता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सब देवों ने भी अन्तःकरण से मेघरथ की प्रशंसा में सहयोग दिया। किन्तु दो देवों को इन्द्र की बात की प्रतीति न हुई। उन्होंने स्वयं परीक्षा करके तथ्यता-अतथ्यता का निर्णय करना निश्चित किया। दोनों स्वर्ग से चल दिये। एक ने कबूतर का रूप बनाया और दूसरे ने बाजका भेष बनाया।

कबूतर-रूपधारी देव उड़ता-उड़ता राजा मेघरथ की गोद मे जाकर बैठ गया। थोड़ी ही देर मे बाज भी वहां आ पहुँचा। वह राजा मेघरथ से बोला—"महाराज! आप न्याय-प्रिय नरेश है। मेरा शिकार आपके पास आ गया है। कृपा कर मुझे लौटा दीजिये।"

राजा मेघरथ असमंजस मे पड़ गये। शिकार इस बाज का है। अतः लौटा देना कर्त्तव्य है। और शरणागत की प्राण देकर रक्षा करना भी मेरा कर्त्तव्य है। दो कर्त्तव्यों मे यह घोर विरोध उपस्थित हुआ है। इस विरोध को किस प्रकार मिटाया जाय?

किस कर्त्तव्य की अवहेलना करके किसे अपनाया जाय ? किसी भी एक कर्त्तव्य का त्याग करने से मैं कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाऊँगा ! फिर क्या उपाय किया जाय ? यह कैसी उलझन है। इस प्रकार सोचते-सोचते महाराज मेघरथ को एक उपाय सूझ गया। उनके मन मे कुछ शान्ति हुई और चेहरे पर प्रसन्नता प्रगट हो गई। उन्होंने बाज से कहा— 'भाई बाज ! शरणागत की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है और मैं विशेष रूप से इस कर्त्तव्य का पालन करता हू। तुम्हारा शिकार मेरे शरण मे आ गया है। अब तुम्हें नहीं लौटा सकता।'

बाज ने कहा—महाराज ! आप बड़े न्यायपरायण और दयालु रूप से प्रसिद्ध हैं। पर देखता हूँ कि आप मेरे प्रति न तो न्याय-व्यवहार करते है और न दया ही दिखलाते हैं। मेरा शिकार मुझे सौंप देना आपका कर्त्तव्य है। मैं भूखा हूं।'

राजा मेघरथ—'तुम भूखे हो तो उत्तम से उत्तम भोजन मँगवाये देता हूं। इसके अतिरिक्त कबूतर के बदले जो कुछ चाहो, देने को प्रस्तुत हूं। मगर शरणागत का परित्राण होना चाहिए।'

बाज—'महाराज ! मुझे आपके उत्तम भोजन की आवश्यकता नहीं है। मैं मांस-भक्षी हूं। मांस ही मेरा भोजन है। क्या आप कबूतर के बदले मुँह माँगी वस्तु देने को सचमुच तैयार हैं ?

राजा मेघरथ—'प्राणों का बलिदान करके भी मैं अपने वचन की रक्षा करने से नहीं हिचकता।' शूरवीर पुरुषों के 'प्राण जायँ पर वचन न जाहीं।'

बाज—यदि आप अपने वचन पर इतने दृढ़ हैं, तो

दीजिए इस कबूतर के नाप का अपने शरीर का मांस।'

राजा मेघरथ के लिए यह माँग महँगी न थी। बाज ने जब कबूतर के बदले उनके शरीर का माँस माँग लिया, तब उन्हें कबूतर के बच जाने का निश्चय हो गया। इस प्रसन्नता के प्रवाह में अपनी शारीरिक विपत्ति का विषाद न जाने किस ओर बह गया? शरीर का थोड़ा-सा मांस देकर भी यदि अपने जीवन के महान् आदर्श की रक्षा की जाय तो सौदा क्या महँगा है? आदर्श कर्त्तव्य तो जीवन से भी अधिक महान् है, अधिक गुरुतर है, अधिक मूल्यवान् है, अधिक रक्षणीय है और अधिक प्रिय है। और यहां तो सिर्फ कबूतर के तोल के मांस से ही आदर्श का रक्षण होता है। कितने आनन्द की बात है? इस प्रकार सोच कर उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपना मास देना स्वीकार कर लिया।

तराजू आ गई। एक ओर पलड़े में थर-थर कांपता हुआ कबूतर बैठा और दूसरी ओर महाराज मेघरथ ने अपने हाथों अपने शरीर का मांस काट कर रखा। जितना मांस उन्होंने काटा वह कबूतर की बराबर न हुआ। फिर काट कर चढ़ाया वह भी पूरा न हुआ तो और ज्यादा काटा। दैव माया के कारण जब मांस वाला पलड़ा ऊँचा ही रहा, तो मेघरथ महाराज स्वयं पलड़े में बैठ गये। उन्होंने कबूतर के परित्राण के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर दिया।

महाराज मेघरथ की परीक्षा हो चुकी। इन्द्र ने देव सभा में जितनी प्रशंसा उनकी की थी। वे उससे भी अधिक प्रशंसा के पात्र निकले। देवों ने अपना असली स्वरूप प्रकट किया। कष्ट देने के लिए क्षमा-याचना की और कहने लगे—'महाराज,

आपकी दयालुता वास्तव मे आकाश की भांति व्यापक और सुमेरु के समान निश्चल हैं। आप संसार मे अनुपम अशरण-शरण है। आपकी कीर्ति इस लोक मे चन्द्र-सूर्य के समान अमर रहेगी और जनता को उच्च आदर्श और कर्त्तव्य का दिव्य संकेत करती रहेगी। आप धन्य हैं, अतिशय धन्य हैं। राजा मेघरथ ने इस अभयदान के प्रभाव से तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। और सोलहवे तीर्थंकर हुए।

भव्य जीवो! सुपात्रदान भी अभयदान का साथी है। जैसे अभयदान के प्रभाव से जीव चक्रवर्ती वासुदेव तीर्थंकर आदि उच्च पद पाते है और अन्त मे निर्वाण को प्राप्त होते है। उसी प्रकार सुपात्र दान से भी निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो भव्य मुनि, आर्यिका, श्रावक और सम्यग्दृष्टि को सद्भाव पूर्वक विशुद्ध दान देता है, वह अनेक भावों के संचित कर्मो का नाश करके एक दिन अक्षय सुखों का भागी बन जाता है। दान दरिद्रता का नाशक और सौभाग्य का उदय करने वाला है। दान के प्रभाव से दुःख के बादल दूर हो जाते है। इस लोक मे यश और परलोक मे सुख, दान से प्राप्त होता है। दान मे विधि, द्रव्य, दाता और पात्र के भेद से अनेक भेद हो जाते है। निर्ग्रंथ साधु दान के सर्वोत्कृष्ट पात्र है। श्रावक और सम्यग्दृष्टि भी उत्तम पात्र हैं। मिथ्यादृष्टि, क्रूर और कुभोगभूमी जीव कुपात्र है। उन्हे धर्म बुद्धि से दान न देकर करुणाबुद्धि से दान देना चाहिए। संसार का प्रत्येक प्राणी अनुकम्पा दान का पात्र हो सकता है। अनुकम्पा-दान देने से भी सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है। जो मिथ्यादृष्टि दान देते हुए को रोकते है, या दान मे अन्तराय लगाते है, वे महा अशुभ कर्मो का बंध करते

हैं। साधु-साध्वी को दिये जाने वाले दान में विघ्न करने वाला अधम जीव है।

भगवान् ऋषभदेव ने पहले के तेरहवें भव में एक मुनिराज को उन्नत भाव से घृत का दान दिया था। इससे उन्हें तीर्थंकर गोत्र का बंध हुआ और वे प्रथम तीथकर हुए। बात इस प्रकार है—एक मुनिराज ने आहार का पात्र छोटा रखा था। वे श्रावक के घर आहार लेने गये। श्रावक (भावी ऋषभदेव) ने कहा—'महाराज ! पात्र कुछ बड़ा रखना चाहिए।' मुनिराज ने कहा—'मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।' सगर श्रावक मुनिराज की भक्ति मे तन्मय था। उसने छोटे से पात्र में घी उंडेलना आरम्भ कर दिया। पात्र भर जाने पर मुनिराज ने कहा—'श्रावक जी ! यह क्या कर रहे हो ? देखो घृत व्यर्थ बह रहा है। रुक जाओ। श्रावक भक्ति के उद्रेक में कहने लगा— 'गुरुराज ! यह घी मेरा नही आपका ढुल रहा है। मै तो पात्र मे डाल रहा हूँ। पात्र मे पहुंचकर आपका हो चुका। अत. जो ढुल रहा है, वह आपका ही है—मेरा नही।' इस प्रकार वह घृत डालता ही चला गया।

उदार हृदय दानशूर श्रावक ने उस समय उत्कृष्ट भावना से तीर्थंकर गोत्र का बंध कर लिया। वह तेरहवें भव में तीर्थंकर हो आदिनाथ के नाम से विख्यात होकर अन्त में मुक्ति को प्राप्त हुए।

मुक्ति का दूसरा साधन, शील है। उसमें ब्रह्मचर्य प्रधान है। दानों मे जैसे सुपात्र और अभयदान उत्तम है। उसी प्रकार सब प्रकार की तपस्याओं मे ब्रह्मचर्य तप उत्तम है। ऐसे तो सभी इन्द्रियो के विषयो का त्याग दुष्कर है किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय का आकर्षण अत्यन्त दुर्धर है। उसके सामने साधारण मनुष्य और

पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या, देवता भी नतमस्तक होते है। अनेक ऋषि-मुनि भी कभी-कभी इस आकर्षण के शिकार हो जाते है। इसने सारे संसार पर अपनी मोहिनी माया फैला रखी है। इसके विषम पाश मे पड़ कर आत्मा विविध प्रकार की विपत्तियां भोग रहे है। फिर भी उन्हें चेत नही है। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन करना दुष्कर हो गया है। परन्तु इस दुष्कर अनुष्ठान का सेवन करने वाले उत्तम पुरुष ही सुख, शान्ति, सतोष और सयम के पात्र होते है। ब्रह्मचारी पुरुष यशस्वी होता है, तेजस्वी होता है और देवता भी उसके चरण-कमलो मे मस्तक नमाते है।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बंभयारि नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य पालन करने वाले महापुरुष को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी प्रणाम करते है।

दुष्कर ब्रह्मचर्यधारी को देवता नमस्कार करते है, इतना ही नही, किन्तु मुक्ति-वधू भी उसे वरण करने के लिए तत्पर रहती है।

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कम्मेणं सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्सा वि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥

जैसे तालाब को निर्जल करने के लिए पहले नवीन जल का आगमन रोका जाता है, फिर पहले भरे हुए जल को उलीचा जाता है, ऐसी क्रिया करने से तालाब सूख जाता है। इसी प्रकार नवीन आने वाले कर्मों को—आस्रव को संयमी पुरुष अपने संयम के द्वारा निरुद्ध कर देता है और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर डालता है। इस प्रकार करोड़ों भवों में बंधे हुए कर्म तपस्या से जीर्ण हो जाते है।

तपस्या आध्यात्मिक शुद्धि का श्रेयस्कर मार्ग है। साथ ही वह शरीर-शुद्धि का भी साधन है। तपस्या अनेक रोगों की अचूक औषधि है। तपस्या से अनेक विस्मयोत्पादक लब्धियो की उपलब्धि होती है। तप समस्त अभीष्ट का साधक, आत्मा का शोधक, विकारों का बाधक और मुक्ति का आराधक है।

मुक्ति का चौथा साधन भावना है। मन की शुभ या अशुभ वृत्ति को भावना कहते हैं। यहां मुक्ति के कारणो का प्रकरण होने से शुभ वृत्ति या शुभ भावना को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अशुभ भावना संसार भ्रमण का कारण है और शुभ भावना क्रमश. मोक्ष का हेतु है। दान, शील और तप में भावना अन्वित रहती है। भावशून्य दान आदि मोक्ष के कारण नही होते। दान आदि को शून्य स्थानीय समझना चाहिए और

भावना को अंक स्थानीय। जैसे अंक-रहित शून्यों का कुछ भी महत्व नहीं है। उसी प्रकार भाव-रहित दान आदि भी वृथा हैं। अंक के साथ शून्य जोड़ देने पर अंक महत्व बढ़ जाता है और भाव के साथ दान आदि हो, तो भाव का महत्व बढ़ जाता है। जिसका अन्तःकरण सद्भावना से भावित है। वह भवन में रहे या वन में रहे गृहस्थ-वेषी हो या साधु-वेषी हो, पुरुष हो या स्त्री हो, कोई और कैसा भी क्यों न हो, मुक्ति उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। भावना की महिमा अनिर्वचनीय है। मरुदेवी ने भावना के प्रताप से हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे मुक्ति पाई और चक्रवर्ती भरत ने काच भवन के भीतर ही केवलज्ञान प्राप्त कर परम पुरुषार्थ की सिद्धि की। सद्भावना का इससे अधिक महत्व क्या हो सकता है।

भद्र जीवो! अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इस मोक्ष की आराधना करो। जिसका आचरण करना शक्य न हो, उस पर श्रद्धा अवश्य रक्खो। श्रद्धावान व्यक्ति भी शनैः शनैः अजर अमर पद प्राप्त कर लेता है।

प्रतिबोध

भगवान् ने अपने शिष्य-मुनियों मे से दस मुनियों को गणधर पद पर प्रतिष्ठित किया था। उनके नाम यह है—(१) आर्य दत्त (२) आर्यघोष (३) विशिष्ठ (४) ब्रह्म (५) सोम (६) श्रीधर (७) वीरसेन (८) भद्रयश (९) जय और (१०) विजय। इन दस गणधरों को भगवान् ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समास रूप से ज्ञान दिया। गणधर विशेष ज्ञानशाली थे। अतः उन्होंने इस ज्ञान के आधार पर विस्तृत द्वादशांग की रचना कर ससार मे विशेष रूप से ज्ञान का प्रसार किया।

वास्तव मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-सिद्धान्त जैन दर्शन की मूल भित्ति है। इसी सिद्धान्त मे स्याद्वाद का समग्र स्वरूप अन्तर्गत हो जाता है, द्रव्य-पर्याय का वर्णन गर्भित हो जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विवेचन हो जाता है और कार्य कारण का रहस्य भी आ जाता है। इसी सिद्धान्त में प्रकारान्तर से नित्यैकान्तवाद, अनित्यैकान्तवाद, ईश्वर कर्तृत्व आदि-आदि मिथ्या मतों का निराकरण भी समन्वित है। अत्यन्त संक्षिप्त शब्दो मे इतने गंभीरतर दर्शन शास्त्र का सत्त्व खीचकर रख देना भगवान् के वचनातिशय अथवा प्रतिपादन पटुता का अद्भुत निदर्शन है।

भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की और इस प्रकार अपने तीर्थंकर नाम कर्म का उदय सार्थक कर जनता को मुक्ति के मार्ग मे लगाया।

पार्श्व प्रभु के ज्येष्ठ अन्तेवासी श्री आर्यदत्त गणधर ने मनुष्यों को उपदेश दिया कि जो कर्म के उदय के कारण, साधु-धर्म

को धारण करने मे असमर्थ हैं। उन्हे देशविरति रूप श्रावक धर्म अवश्य ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि मुक्ति रूपी महल पर पहुँचने के लिए अनेक सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती है। जो एक दम ऊँची सीढ़ी पर आरूढ़ नही हो सकते, उन्हे नीचे सीढ़ी पर आरुढ़ हो कर उन्नति करनी चाहिए। प्रत्येक सीढ़ी जैसे महल की ओर ही ले जाती है, उसी प्रकार क्या देशविरति और क्या सर्वविरति दोनो मुक्ति की ओर ले जाती है। श्रावक-धर्म का निर्दोष भाव पूर्वक पालन करने वाला भव्य प्राणी भी सात-आठ भवों मे मुक्ति कामिनी का कमनीय कान्त बन जाता है। इस प्रकार का गणधर महाराज का उपदेश सुन कर अनेक मुमुक्षुओ ने श्रावक-धर्म धारण किया। अनेको ने प्रकीर्णक व्रत-नियम स्वीकार किये। आर्यदत्त का उपदेश सुन कर श्रोतृ समूह अपने-अपने स्थान पर चला गया।

धरणेन्द्र और पद्मावती भी उस समय अपनी दैविक सम्पत्ति के साथ प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुए। प्रभु को यथाविधि प्रणाम कर धरणेन्द्र बोला—"हे दीनानाथ! आपकी महिमा अपरम्पार है। आपका वास्तविक स्वरूप व्यक्त करने की मुझ मे जरा भी क्षमता नहीं है। आप अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी अनन्त शक्ति सम्पन्न और अनन्त आत्मीय सुख के सागर हैं। हे प्रभो! आप पतितो के अनन्य आश्रय है। आपके पावन पादपद्म के प्रसाद से पतित-से-पतित प्राणी भी परम पद का आस्पद बन जाता है। आप तीन लोकों मे श्रेष्ठ है। समस्त संसार के पूजनीय पुरुषोत्तम हैं। सुर-असुर इन्द्र-अहमीन्द्र सभी आपके सेवक है। सभी आपके चरणो मे नतमस्तक रहते हैं। आपने कठोर तपस्या कर के आत्मिक सम्पत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति की

है। हे जिनेश! आप जगत् के निस्वार्थ बन्धु हैं। जगत् के नाथ हैं, जगत् के त्राता हैं, जगत् के पथ-प्रदर्शक हैं। हे जिनेन्द्र! आप संसार के हितकर है। विविध आधि-व्याधि और उपाधि की धधकती धूनी मे विध्वंस होने वाले धरिणी के जीवधारियों का उद्धार करने के लिए धर्म रूपी सुधा की धारा बहा रहे है। प्रभो! आपकी वीतरागता चरम सीमा को प्राप्त हो चुकी है। आपके शुभ दर्शनो का सौभाग्य पूर्वोपार्जित प्रकृष्ट पुण्य के बिना नहीं मिलता। हे अशरण-शरण! आपने हम जैसे प्राणियों पर, जब हम नाग-नागिन के रूप मे धूनी में जल-भुन रहे थे--असीम दया दिखाई थी। आपने अमित महिमा-मंडित मंगलमय महामन्त्र अपने मुखारविन्द से सुनाया था। उसीके प्रताप से हमें यह संपत्ति प्राप्त हुई है। आपने अपनी करुणा के शीतल कणों की वृष्टि हम पर न की होती, तो न जाने हम लोग किस दुर्गतिमे दयनीय दशा का संवेदन करते होते। प्रभो! आपकी इस अनुपम असीम करुणा का प्रतिशोध नही हो सकता। हे महाभाग! हे विश्ववंद्य! आप को हम पुनः पुनः मन-वचन काय से प्रणाम करते है। जन्म-जन्मान्तर मे आपकी भक्ति हमारे हृदय-कमल मे सदैव बनी रहे यही हमारी कामना है। यही वर-दान हम आपसे चाहते है।"

एक बार भगवान् पार्श्वनाथ विचरण करते हुए सावंथी (सावत्थी) नगरी में पधारे। वहां भी समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने धर्म-देशना दी। धर्मामृत का पान करने के बाद अनेक मनुष्यो ने साधु-वृत्ति धारण की। अगस्तिक गाथापति ने भी संसार से विरक्त हो कर मुनि-धर्म अंगीकार किया। वह पर्याप्त मुनि संघ के पालन में अपनी सभी शक्ति लगा कर जाते थे।

जब उनके गण के नायक मुनि, प्रमादवश की हुई भूल का प्रायश्चित लेने को कहते, तो आगन्तिक मुनि टालमटोल कर जाते थे। वे अपनी भूल को स्वीकार नहीं करते थे। इसी अवस्था में उन्होंने शरीर का त्याग किया। शरीर-त्याग कर वे चन्द्र-विमान में चन्द्रदेव हुए।

बहुत से लोगों की यह समझ है, कि चन्द्रमा का जो बिम्ब दिखाई देता है, वही चन्द्रदेव है। किन्तु यह समझ भ्रम-पूर्ण है। गोलाकार जो सफेद चन्द्रमा दिखाई देता है, वह जमीन है। उसमें अनेक देवों का निवास है। वहां रहने वाले सब देवों का अधिपतिदेव, चन्द्रदेव कहलाता है। यह सफेद पृथ्वी, मेरु पर्वत के चारों ओर घूमती है। इसके नीचे एक पृथ्वी काली है। उसे राहु की पृथ्वी कहते हैं। उसमें राहु नामक देवता निवास करता है। उसके साथ उसके अधीन अनेक देवता और रहते हैं। यह जमीन भी गोल और चपटी है। चन्द्र-पृथ्वी के साथ-साथ, राहु-पृथ्वी भी घूमती रहती है। मगर दोनों की चाल बराबर नहीं है। इस चाल के भेद से ही द्वितीया, तृतीया चतुर्थी आदि-आदि

विभाग होते हैं।

चन्द्रदेव और सूर्यदेव की मृत्यु होने पर चन्द्र-पृथ्वी और सूर्य-पृथ्वी पर कोई प्रभाव नही पड़ता। एक देव के मरने पर दूसरे देव की उत्पत्ति हो जाती है और पृथ्वियों की चाल पूर्ववत् जारी रहती है।

चन्द्र और सूर्य की पृथ्वी के नीचे राहु और केतु की पृथ्वी आ जाने से चन्द्र-सूर्य-पृथ्वी दृष्टि के अगोचर हो जाती है। इसी को चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण कहते है। अनेक लोग ऐसा समझते है, कि ग्रहण के समय चन्द्र या सूर्य पर बड़ी भारी विपदा आ पड़ती है। यह भ्रान्त धारणा है। जिस प्रकार अगस्तिक गाथापति चारित्र की विराधना कर चन्द्रदेव हुआ उसी प्रकार सूर्यदेव भी हुआ है।

सावंथी नगरी की ही घटना है। तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ यत्र-तत्र-सर्वत्र विहार करते हुए इस नगरी में पधारे। वहां आपने धर्म-देशना दी। देशना समाप्त होने पर वहांके सुप्रतिष्ठित नामक गाथापति ने चारित्र धारण किया। चारित्र धारण करके उसने थोड़े ही दिनों मे, अंग शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। वह भी अगस्तिक गाथापति की तरह अपनी भूल स्वीकार न करता था। अतएव उसने अपने संयम को विराधित कर लिया और वह सूर्य-विमान मे सूर्य देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने मोहनीय कर्म का समूल विनाश कर दिया था। मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से वे पूर्ण निष्काम हो गये। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है और मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर इच्छा का भी अभाव हो जाता है। अतएव भगवान् की इस समय की क्रियाएँ निष्काम भाव से होती

थीं। कोई यह आशंका कर सकता है, कि जब भगवान् निरीह थे, तो धर्मोपदेश कैसे देते थे ? संसार मे विना इच्छा के कोई भी कर्त्ता किसी भी कार्य मे प्रवृत्त नही होता। यह प्रश्न संगत है। और इसका समाधान इस प्रकार है। जैसे बजाने वाले के हस्त से स्पर्श से मृदग इच्छा-रहित होन पर भी-ध्वनि करता है। उसी प्रकार अरिहंत भगवान इच्छा रहित होने पर भी तीर्थंकर नाम-कर्म का उदय होने के कारण धर्मोपदेश करते है। दूसरा कारण भव्य जीवो के प्रबल पुण्य का उदय है। भव्य प्राणियों के प्रबल पुण्य-परिपाक से तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि खिरती है। अतएव इच्छा और ध्वनी मे अविनाभाव संबन्ध नही है। उस शब्द को बोलने की इच्छा न रहते हुए भी लोक मे अनेक मनुष्य अनेक शब्दों का उच्चारण कर देते है। इससे भी इच्छा और ध्वनि की व्याप्ति का खडन हो जाता है। अत. भगवान् सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर के भी धर्मोपदेश मे प्रवृत्त होकर मानव-समाज का कल्याण करते थे।

धर्मोपदेश करते हुए भगवान् एक बार फिर वाराणसी नगरी मे पहुँचे। भगवान् के शुभागमन का संवाद तत्काल ही समस्त नगरी मे विद्युत्-गति से फैल गया। सहस्रों नर-नारी भगवान् के मुख-चन्द्र से झरने वाले लोकोत्तर सुधा का पान करने के लिए उमड़ पडे। भगवान् का उपदेश सुन कर सब ने अपने को कृत-कृत्य समझा। सब ने भगवान् की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए स्तुति की। उस समय बनारस मे एक सोमल नामक ब्राह्मण रहता था। उसे घोर मिथ्यात्व के उदय से भगवान् की प्रशंसा सह्य न हुई। चारो वेदो का ज्ञाता वह ब्राह्मण विद्वान् अपनी विद्वत्ता के अभिमान मे डूबा हुआ भगवान् के पास आ पहुँचा।

त्याग किया। सोमल ने बीच की अपनी मिथ्या प्रवृत्ति की आलोचना नहीं की। अतः उसे उतना उच्च सुख न मिल पाया, जितना तपस्या के फल-स्वरूप मिलना संभव था। फिर भी वह शुक्र-विमान में देवता हुआ। यह शुक्र देव शुक्र विमान में एक पल्योपम की आयु व्यतीत करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर वहा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

मनुष्य अपने विवेक के अनुसार प्राय. सन्मार्ग को स्वीकार करना चाहता है और सत्प्रवृत्ति करना चाहता है। किन्तु उसकी ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति परिमित होती है। इस परिमिति के कारण ज्ञान और अज्ञान रूप में अनेक भूलें हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह भूल मालूम होते ही उसकी निन्दा-गर्हा करे और उचित प्रायश्चित लेकर शुद्धि करले। जो भूलें अज्ञात हों उनके लिए सामान्य रूप से पश्चात्ताप कर ले। यह शुद्धि का जिनोक्त मार्ग है। इसीलिए प्रतिक्रमण, आलोचना प्रायश्चित्त, आदि की व्यवस्था की गई है। यह क्रियाएँ मानव-जीवन को अभ्युन्नत बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनसे आत्म-निरीक्षण होता है, अपनी निर्बलता और प्रबलता ज्ञात हो जाती है और आगे के लिए सावधानी प्राप्त हो जाती है। सोमल तापस ने अपनी पहले की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टि निपात किया होता, तो उसकी तपस्या के फल में न्यूनता न आती।

एक बार प्रभ पार्श्वनाथ, विचरते हुए पुङ्ग देश के अन्तर्गत साकेतपुर पधारे। उन्हीं दिनों एक विशेष घटना घटित हो गई। पूर्व देश में ताम्रलिप्त नगरी में बन्धुदत्त नामक एक बड़ा भारी व्यापारी रहता था। उसी शहर में एक ब्राह्मण भी रहता था। ब्राह्मण की पत्नि कुलटा थी। उसने ब्राह्मण को विष दिलवा कर

का परित्याग कर साधु-वेष पहन लिया। हाथ मे पात्रों की झोली ले ली और मुख पर मुखवस्त्रिका बांध ली। बगल मे रजोहरण ले लिया। इस प्रकार वेष धारण कर वह भगवान् के संघ मे दीक्षित हो गया। उसने विशेष तपश्चर्या और ज्ञान-ध्यान की आराधना करके अल्प काल मे ही कृत्स्न कर्म क्षय कर मुक्ति श्री को प्राप्त किया।

एक बार शिवचन्द्र, सुन्दर सौभाग्यचन्द्र और जयचन्द्र नामक चार मुनियों ने भगवान् के निकट जाकर, विधिवत् वन्दना आदि व्यवहार करके भगवान् से पूछा—'भगवन्! आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है। संसार का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोई भी ऐसा भाव नही है जो आपके केवल ज्ञान मे न झलक रहा हो। अनुग्रह करके हमे बताइए, कि इसी भव मे हम लोगो को मोक्ष प्राप्त होगा या नही? प्रभु ने कहा—'तुम चारो इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करोग।

सर्वज्ञ भगवान् ने इसी भव से मोक्ष मे जाने का विधान कर दिया। तब मुक्ति रुक ही कैसे सकती है? जब मुक्ति अवश्यमेव प्राप्त होगी अनशन आदि विविध प्रकार की तपस्या का कष्ट क्यों उठाया जाय? आनन्द मे रह कर ही मुक्ति क्यों न प्राप्त की जाय? भगवान् का कथन अन्यथा कदापि नही हो सकता। ऐसा विचार करके उनके विचार सयम से शिथिल हो गये। कुछ दिनों तक शिथिलाचार सेवन करके उनके मन मे परिवर्तन हो गया। भावी को कोई टाल नहीं सकता। उन्हे इसी भव मे मोक्ष मिलना था अतएव उनके परिणामो मे फिर उत्कृष्ट संयम पालने की इच्छा जागृत हुई। उन्होंने अपनी शिथिलता के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया और संयम के आराधन मे विशेष रूप से तत्पर हो गए। अन्त मे चारों मुनि कर्मों की जजीर को छिन्न-

सकता है। बड़े भाई का कर्त्तव्य छोटे भाइयों को पीड़ा पहुँचाना नहीं है किन्तु उन्हें सुख पहुँचाना, उनकी रक्षा करना है। जो मनुष्य इस कर्त्तव्य का अन्तःकरण से पालन करता है, वह दूसरे प्राणियों का ही हित नहीं करता पर अपना भी हित करता है। हिंसा घोर पातक है। हिंसक मनुष्य अपनी आत्मा को पापमय बना कर दुःख का भागी होता है। अहिंसा की आराधना करने से इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। इसलिए अपने सुख के लिए भी हिंसा का त्याग करना चाहिए। देखो, जब तुम्हारे पैर मे छोटा सा काँटा लग जाता है, तो तुम तिलमिला जाते हो। तब निरपराध दीन-हीन प्राणियों के शरीर में भाला घुसेड़ने पर उन्हें कितनी घोर वेदना होती होगी? बेचारे पशु मनुष्य का बिगाड़ते भी क्या है? वे न किसी प्रकार का संचय करते हैं, न परिग्रह जोड़ते है। उन्हें पेट-भर खाना चाहिए। जंगल के घास-फूस से अपना निर्वाह कर लेते हैं। फिर भी मनुष्य उन्हे शान्ति से नही रहने देता, यह कितने शोक की बात है? इसलिए मै कहता हूँ—भाई शिखरसेन! हिंसा न करो। सुख से रहो, और दूसरो को भी सुख से रहने दो। भगवान पार्श्वनाथ का यही उपदेश है।'

मुनिराज इस प्रकार प्रतिबोध देकर, वहाँ से चल दिये। शिखरसेन दूर तक उन्हें पहुँचाने आया और उसने तभी से हिंसा का त्याग कर णमोकर मंत्र का जाप करना आरम्भ कर दिया।

एक बार शिखरसेन अपनी पत्नी के साथ, पहाड़ों मे बहने वाली नदी मे जल क्रीड़ा करने गया। अचानक वहां एक सिंह आ गया। उसने दोनो को अपने पंजों से आहत कर दिया। उस

समय दोनों ने णमोकार महामंत्र में ही अपना चित्त लगा दिया। इस अवस्था में मरने के कारण दोनों प्रथम देव लोक में देव-देवी के रूप में उत्पन्न हुए। दोनोंकी आयु एक पल्य की थी। वहां स्वर्गीय सुखों का संवेदन कर के आयु पूर्ण होने पर शिखरसेन का जीव विदेह क्षेत्र में चन्द्रपुरी के राजा कुशमृगांङ्क के यहां पुत्र हुआ। वहां उसका नाम मीनमृगांङ्क रखा गया। चन्द्रावती देवी मर कर कुशमृगांङ्क के सामंत राजा भूषण के घर कन्या हुई। उसका नाम बसन्तसेना रखा गया। दोनों राज-घराने में सुख पूर्वक बाल्यकाल व्यतीत करके क्रमशः यौवन वय में आये। दोनों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध हो गया। आर्य-सभ्यता की प्राचीन परिपाटी के अनुसार कुछ दिनों बाद राजा कुशमृगांङ्क ने अपना समस्त राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र मीनमृगाङ्क को सौंप दिया और आप दीक्षित होकर आध्यात्मिक साम्राज्य की प्राप्ति के लिए जुट गया।

समस्त राज सत्ता अब मीनमृगांङ्क के हाथ में थी। सत्ता पाकर विवेक, धर्म, नीति और कर्त्तव्य का अनुसरण करना बड़ा कठिन है। सत्ता या प्रभुता मे एक प्रकार का ज़हर है। उस ज़हर को पचा लेना प्रत्येक का काम नहीं। पर जो उसे पचा लेते हैं, वे मानव-समाज मे आदरणीय हो जाते हैं। जो नहीं पचा पाते, उनकी दशा अत्यन्त दारुण होती है प्रभुता का वह विष दुराचार अत्याचार के रूप मे फूट निकलता है। मीनमगांङ्क उस विष को पचा न सका। अतएव वह उसके कार्यों के द्वारा फूट निकला। उसने अपने अत्याचारों द्वारा प्रजा मे त्राहि-त्राहि मचवा दी। अपने मनोरंजन के लिये वह सैकड़ों निरपराध प्राणियों का घात करने लगा। अन्याय और अत्याचार मानो उसके नित्य-कर्म

बन गये। इस उग्र पाप के कारण उसके शरीर में दाह ज्वर हो हो गया और अन्त में तीव्र वेदना के साथ मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

वसन्तसेनाने मोह के वश होकर पति-वियोग के कारण आग में जल कर अपने जीवन का अन्त कर दिया। अनेक अज्ञानी प्राणी, विधवा के अग्नि-प्रवेश को संगत मानते और आग में जलने वाली स्त्री को 'सती होना' कहते हैं। यदि सचमुच आग में जलने पर ही स्त्री सती होती हो, तो आग में न जलने वाली सधवा स्त्री कोई भी सती न कहलाएगी। पर वास्तव में सतीत्व का यह अर्थ नहीं है। जो स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों पर पिता-भ्राता या पुत्र का भाव रखती है, जो एक देश ब्रह्मचर्य का पालन करती है, जो अपने धर्म-विरुद्ध कुलाचार का पालन करती है, वही स्त्री सती है। विधवा होने के पश्चात् अथवा सधवा-अवस्था में ही जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करती है, वह महासती का पद पाती है। आग में जल मरना सतीत्व का चिह्न नहीं है। वह तो तीव्रतर मोह का फल है। इस मोह के कारण किया जाने वाला आत्मघात, दुर्गति में ले जाता है। वसन्तसेना ने आत्मघात किया, इसलिए उसे भी छठे नरक में उत्पन्न होना पड़ा।

राग हो गया। दोनो ने श्रावक धर्म को धारण कर लिया। दोनों पति-पत्नी श्रावक-धर्म की आराधना करके पांचवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहां की आयु समाप्त करके तुम वणिक कुल मे उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा नाम वन्धुदत्त रखा गया है। हे वन्धुदत्त ! मीनमृगांङ्क के भव मे तुमने घोर हिंसा का आचरण किया था। अनेक हिरन-हरनियों की हत्या की। उन्हें विछोह की वेदना पहुँचाई। भांति-भांति के अत्याचार करके राजा के पद को तुमने कंलकित किया था। उसी के फल स्वरूप तुम्हें यह कष्ट भोगने पड़े हैं।

मुनिराज के मुखारविन्द से अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुन कर अपने पूर्ववर्ती दुराचार के लिए उसे हार्दिक संताप हुआ उसने तीव्र पश्चात्ताप प्रगट किया। पश्चात्ताप प्रगट करते ही उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसे भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा वताया हुआ वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ज्ञात हो गया। इस कारण वन्धुदत्तके मन में भगवान् के प्रति प्रगाढ़तर श्रद्धा उत्पन्न हो गई। हर्ष-विपादमय श्रद्धा-भाव के जागृत होने पर उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

तत्पश्चात् चन्द्रसेन रुंधे हुए कंठ से वोला—"हे अशरण-शरण। हे पतित-पावन। मै वड़ा पातकी हूँ। मेरे पापों का ओर-छोर नहीं है। मैने एक नही, दो नहीं-सातों दुर्व्यसनों का सेवन किया है। हाय ! मैने वडे अत्याचार किये। वडा अन्याय किया। न जाने कितनों के प्राणों का घात किया और कितनों का धन लूट कर उन्हें दर-दर का भिखारी वना डाला। मैने मानवता को तिलांजली देकर दानवता को अपनाया। प्रभो ! मै इतने पापों का गुरुत्तर भार लाद कर संसार सागर के पार कैसे पहुँचूंगा ?

दीनदयालु भगवान् पार्श्वनाथ ने फरमाया—"हे भद्र! सुबह का भूला शाम को ठिकाने पहुँच जाय तो वह भूला नहीं कहलाता, ऐसा लोक-प्रवाद है। तुम ने अज्ञान अवस्था मे पाप किये है। अब तुम सन्मार्ग पर आगये हो। वीतराग-धर्म पतितपावन है। इसका आश्रय लेकर नीच-ऊँच, अधम-उत्तम सभी दुखों से मुक्त हो सकते है। गत काल के कृत्यों पर पश्चाताप करके आगामी काल को सुधारना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। तुम इस कर्त्तव्य का पालन करो। यही हित का, सुख का और शान्ति का मार्ग है। घोर से घोर पापी इस मार्ग का सहारा लेकर तिर गये है।"

वन्धुदत्त ने पूछा—'प्रभो! अनुग्रह करके यह भी बताइए, कि आगामी भव मे मेरी क्या गति होगी?' भगवान् ने फरमाया—

तुम इसी जन्म मे संयम धारण करके पांचवें स्वर्ग मे देव होओगे। वहाँ दिव्य ऐश्वर्य का भोग करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर चक्रवर्ती बनोगे। चक्रवर्ती के अखंड साम्राज्य के अधीश्वर बन कर फिर उसे त्याग कर जैन दीक्षा धारण करोगे। जैनेन्द्री दीक्षा का विधिवत् पालन करके अन्त मे सिद्ध, बुद्ध होओगे। चन्द्रसेन भी वहां दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

भूरागांव के निवासी अशोक माली के जीव ने भी पार्श्व प्रभु से अपने पूर्व भवों का वतान्त श्रवण कर अपनी आत्मा का उद्धार किया।

निर्वाण

इस प्रकार अनेक पापी जीवो को सन्मार्ग पर लगाकर प्रभु ने

उनका उद्धार किया। भगवान् के समय धर्म के नाना भ्रान्तरूप फैले हुए थे। लोग यज्ञों मे हिंसा करके और अज्ञान तपस्या करके अपने को कृत-कृत्य समझने लगते थे, सैंकड़ों बाल-तपस्वी सर्वत्र अपना अड्डा जमाये हुए थे और जनता के समक्ष मनचाही धर्म प्ररूपणा करके अपना स्वार्थ-साधन करते थे। अहिंसा, संयम और तप रूप वास्तविक धर्म को लोगों ने विस्मृत कर दिया था। प्रभु ने इन सब भ्रान्तियों का निराकरण किया। उनके द्वारा सद्धर्म का प्रचार हुआ। अहिंसा, सत्य आदि की प्रतिष्ठा हुई। संयम और तपस्या का मार्ग खुल गया। सभी लोग जिन धर्म का शरण लेकर आत्महित के प्रशस्त पथ मे अग्रसर हो गये।

भगवान ने अरिहंत अवस्था में पुष्पचूला आदि ३८ हजार महिलाओं को तथा आर्यदत्त गणधरादि सोलह हजार व्यक्तियों को मुनिधर्म मे दीक्षित किया। सूर्य प्रभृति एक लाख चौसठ हजार गृहस्थों को बारह व्रतधारी श्रावक बनाया। तीन लाख उनचालीस हजार महिलाओं को देशविरति संयम देकर श्राविका बनाया। सोलह हजार मुनियों में एक हजार मुनि केवलज्ञानी थे, साढ़े सातसौ मुनि मन.पर्याय-ज्ञानी थे और चौदह सौ मुनि अवधिज्ञानी थे। साढ़े तीन सौ मुनि चौदह पूर्व के वेत्ता थे। ग्यारह सौ मुनि वैक्रिय लब्धि के धनी थे। छह सौ मुनि वाद-विवाद करने वाले प्रखर वाग्मी थे और शेष मुनि ज्ञान-ध्यान-तप करने वाले थे।

भगवान् पार्श्वनाथ के साधु पांच वर्णों में से किसी भी वर्ण का वस्त्र पहन-ओढ़ सकते थे। चाहे वे वस्त्र बहुमूल्य हों या अल्प मूल्य हों, पर मुनियों को उन पर किसी प्रकार का रागद्वेष न

था। वे दोनों को समान समझ कर ग्रहण करते थे। उस समय के सब साधु, प्रकृति से अत्यन्त भद्र थे। उनका हृदय कोमल था। हठी बिलकुल न थे। अत. पाप लगता तो प्रतिक्रमण करते थे और न लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते थे।

जगत् के जीवों को धर्म-पथ बता कर जब भगवान् ने अपनी आयु पूर्ण होने आई देखी,तो वे सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे। वहां पर उन्होने एक मास का संथारा लिया। उनके साथ अन्य तेतीस मुनियों ने भी संथारा लिया। श्रावण शुक्ला अष्टमी का दिन था, विशाखा नक्षत्र था। आसन के कांपने से स्वर्ग से अगणित देव-देवी भगवान की सेवा बजाने और उनकी पावन मुद्रा का अन्तिम दर्शन करने के लिए आये। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे स्वर्गलोक खाली हो गया है और समस्त देव-देवियां मध्यलोक मे आ गये है। इसी दिन मध्यलोक का प्रखर प्रकाश अन्तर्हित हो गया। देवाधिदेव पार्श्वनाथ ने शुक्ल ध्यान का आलम्बन किया, शैलेशीकरण किया, योगो का पूर्ण निरोध किया और चौदहवे गुणस्थान मे पहुँच कर अन्त मे सिद्धि प्राप्त की। तेतीसों मुनियों के चार घातिया कर्म नष्ट हो गये। उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। और उसके अनन्तर थोड़े ही समय के पश्चात् वे भी परम पद को प्राप्त हुए।

मनुष्यो और देवो ने मिलकर भगवान् का निर्वाण-कल्याणक मनाया और सब अपने-अपने स्थान पर चले गये।

परिशिष्ट

भगवान् पार्श्वनाथ का विक्रम सम्वत् पूर्व ७२० में निर्वाण होने के पश्चात् उनके पद पर उनके प्रधान शिष्य गणधर शुभदत्त विराजमान हुए। गणधर श्री शुभदत्त के अनन्तर श्री हरिदत्त, श्री आर्यसमुद्र और अन्त में आचार्य श्री केशी श्रमण पद पर सुशोभित हुए। श्रीकेशी श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ के पाट पर विराजते थे, तब श्री वीर भगवान का आविर्भाव हो चुका था। सुप्रसिद्ध सूत्र श्री उत्तराध्ययन में गौतम स्वामी और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तरों का उल्लेख पाया जाता है। इन प्रश्नोत्तरों के आधार पर कुछ विद्वानों ने अनेक प्रकार के भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगों का कथन है, कि भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर की परम्परा भिन्न-भिन्न थी। इस सम्बन्ध मे हमने इस ग्रन्थ की आदि में थोड़ा-सा विचार किया है। यहां भी इसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है, जिससे वास्तविकता का पता सर्व साधारण को चल सके।

प्रत्येक तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सर्वज्ञ होने पर ही धर्म का उपदेश देते है, और दो सर्वज्ञों का एक ही विषय का कथन परस्पर विरोधी नही हो सकता। क्योंकि सत्य अखंड है, अविरुद्ध है। उसमें विरोध का अवकाश नहीं है। भ० पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी सर्वज्ञ थे। अतएव उनके कथन विरोधी नहीं हो सकते।

तीर्थंकर भगवान् आत्मा के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान आदि दोषों को नष्ट करने का तथा वस्तु को वास्तविक रूप का उपदेश देते हैं। इस उपदेश में सामयिक परिस्थिति का भेद भी

कोई भेद उत्पन्न नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है। राग आदि दोषों को दूर करना सब कालो मे समान है। उन्हें दूर करने का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी सब कालों मे समान है। धर्म वस्तु का स्वरूप है और वस्तु भौतिक रूप मे त्रिकाल तथा त्रिलोक मे समान होती है अत: उसका स्वरूप भी देश काल के अनुसार परिवर्तन नही होता। जब वस्तु स्वरूप सदैव वही है और उसी का यथार्थ प्रतिपादन तीर्थंकर भगवान् करते हैं, तब दो तीर्थकरों के कथन परस्पर विरोधी किस प्रकार हो सकते है? ऐसी स्थिति मे गौतम स्वामी और केशी स्वामी के प्रश्नोत्तरो से दोनों तीर्थकरों के उपदेश मे विरोध की कल्पना करना नितान्त अनुचित और असंगत है।

शका—यदि दोनो तीर्थकरों के उपदेश मे विरोध नहीं था,तो भ०पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का और भ०महावीर ने पांच महा व्रतो का उपदेश क्यों दिया? क्या यह उपदेश परस्पर विरोधी नहीं है?

समाधान—दोनों उपदेशो मे अणुमात्र भी विरोध नहीं है। एक मनुष्य अठन्नी की विवक्षा करके कह सकता है, कि एक रुपये के दो खंड होते हैं। दूसरा एक अठन्नी और दो चवन्नियों की अपेक्षा एक ही रुपये के तीन खंड बना सकता है। इसी प्रकार चार-पाच छः-आदि खंड किये जा सकते है, फिर भी रुपया अठन्नी आदि के स्वरूप मे जरा भी विरोध नहीं होता। इसी प्रकार सर्व विरति के विभिन्न विवक्षाओ से अनेक विकल्प किये जा सकते हैं, पर उनमे विरोध तनिक भी नहीं होता। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश के अनुसार ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनो एक अठन्नी मे दो चवन्नियो के समान एक ही विकल्प मे सम्मिलित

थे और भगवान् महावीर के उपदेश में एक अठन्नी की दो चवन्नी के समान दोनों महाव्रत अलग-अलग गिने जाते हैं। दोनों के उपदेश में, वस्तु-स्वरूप में कुछ भी भिन्नता या विरोध नहीं है, यह तो केवल गणना का काल्पनिक भेद है। जो शिष्यों को समझाने के सुभीते के लिए अपनाया गया है। भ० पार्श्वनाथ ने यदि अब्रह्मचर्य को धर्म माना होता तो वस्तु के स्वरूप में भेद कहलाता, परन्तु ऐसा उपदेश कोई तीर्थंकर तो क्या, सामान्य विद्वान् भी नहीं दे सकता। अतएव चातुर्याम और पंचयाम के आधार से दोनों तीर्थंकरों के उपदेश में कुछ भी भेद नहीं है।

शंका—कोई-कोई ऐसा मानते हैं, कि श्री केशी श्रमण ने गौतम स्वामी से वही प्रश्न किये हैं, जिनके विषय में उन्हें निश्चय न था। भगवान् पार्श्वनाथ ने उन विषयों का स्पष्टीकरण नहीं किया था। महावीर स्वामी ने अपने उपदेश में नई बातें सम्मिलित की हैं। क्या यह सत्य है?

समाधान— यह कल्पना निराधार है। अज्ञान वस्तु को जानने के लिए ही प्रश्न नहीं किये जाते। श्री केशी श्रमण पार्श्व तीर्थ के प्रमुख आचार्य थे, श्रुत के पूर्ण ज्ञाता और अवधि ज्ञानी थे। उन्हें इन प्रश्नों के उत्तर न मालुम हों यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव उनके प्रश्न करने का आशय कुछ और ही होना चाहिए। प्रश्न पूछने के अनेक आशय हो सकते हैं। जैसे— उत्तरदाता की उत्तर देने की शैली का अध्ययन करने के लिए प्रश्न किये जाते हैं। पृष्टव्य विषय में संदेह न होने पर भी उस विषय में किसी नवीन युक्ति को जानने की अभिलाषा से भी प्रश्न किये जा सकते हैं। सर्वसाधारण को वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने के उद्देश्य से भी प्रश्न किये जाते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी

हो सकते हैं। केशी स्वामी के प्रश्नों से यह कल्पना कर लेना, कि उन्हें इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञात न था, एक हास्यास्पद बात है। आजकल भी-अनेक विद्वान् दूसरे विद्वानो से अनेक प्रश्नों पर वीतराग चर्चा करते हैं। क्या इससे यह परिणाम निकलना संगत होगा, कि पृष्टव्य विषयों का अब तक निश्चय नहीं है और वे अंधकार मे है? भगवान् महावीर और उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम के अनेक प्रश्नोत्तर आज सूत्रों मे विद्यमान है। अनेक प्रश्न बिलकुल सामान्य है, साधारण व्यक्ति भी उनका समाधान कर सकता है। तो क्या यह समझना बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जा सकता है, कि गौतम स्वामी को सिद्धान्तों का सामान्य भी बोध न था? कदापि नहीं। इस प्रकार निश्चय है, कि श्री केशी स्वामी और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तरों से यह सिद्ध नहीं होता, कि भगवान् महावीर ने जैन धर्म के पार्श्व-काल मे अनिश्चित सिद्धान्तो का निश्चित रूप दिया था।

पार्श्व संघ और वीर-संघ के सामान्य शाब्दिक अतएव काल्पनिक भेद को वृहत् रूप देकर विधर्मी लोग दोनों में मतभेद एवं विरोध की नींव डालना चाहते होगे। दोनों संघो को वास्तविक मतभेद न होने पर भी-उन संघो के सामान्य अनुयायी विरोधियों के बहकावे मे आने लगे होंगे। अतएव दोनों संघों के प्रधान महापुरुषों ने मिलकर और तत्त्वचर्चा करके सर्वसाधारण को बता दिया, कि दोनों मे कुछ भी, वास्तविक मतभेद नहीं है। केशी स्वामी के प्रश्न गौतम स्वामी के उत्तर और फिर उनकी केशी स्वामी द्वारा की हुई अनुमोदना, इन से यही निष्कर्ष निकालना सुसगत प्रतीत होता है। दोनों मे मतभेद होता तो वह गौतम के छोटे से उत्तर से कदापि नहीं मिट सकता था। उस

हालत में लम्बा चौड़ा वादविवाद होता और संभव है, कि फिर भी कही न कहीं मतभेद बना रह जाता।

शंका—जिन विषयों पर केशी-गौतम प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन्हीं विषयों को प्रश्नोत्तर के लिए क्यों चुना गया? दूसरे विषयों की चर्चा क्यों नहीं की गई? क्या इससे यह सिद्ध नही होता, कि इन्हीं विषयों में मतभेद था।

समाधान—इस शंका के दो समाधान हैं। प्रथम तो यह, कि जिन विषयों को लेकर विधर्मियों ने मतभेद की निराधार बात उड़ाई होगी उन्ही विषयों पर वार्तालाप करके दोनों संघों को वस्तुस्थिति समझाना आवश्यक समझा गया। अन्य विषयों की चर्चा की आवश्यकता ही न थी। दूसरे यदि इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर प्रश्नोत्तर होते, तो भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों कायम रहता, कि उन्हीं पर चर्चा क्यों, औरों पर क्यों नहीं? इस प्रकार के प्रश्न प्रत्येक के विषय में किये जा सकते है और ये निरर्थक हैं।

इसी प्रकार वेष के विषय में तथा अन्यान्य विषयों में हुए प्रश्नोत्तरों की स्थिति है। वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों ने एक ही धर्म का उपदेश दिया था। उनके उपदेशों में कुछ भी मतभेद न था। मतभेद होता तो पार्श्व-संघ के प्रधान आचार्य अपने संघ के साथ भगवान् महावीर की छत्र-छाया में न आकर अलग ही रहते और अपने धर्म का पहले की ही भांति स्वतन्त्र रूप से उपदेश करते। तीर्थंकरो के उपदेश मे पारस्परिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव जो लोग भ०महावीर को नग्नता का प्रवर्त्तक और भ०पार्श्वनाथ को सवस्त्रता का प्रवर्त्तक मान कर विरोध की कल्पना करते है, वह भी अयुक्त है। जिनशासन में केवल वेष

का कोई मूल्य नही है। केशी-गौतम-संवाद मे श्री गौतम स्वामी ने स्पष्ट कहा है, कि धर्म का साधन ऐच्छिक है, लोक-प्रत्यय के लिए है, संयम-निर्वाह के लिए है, और साधुत्व का भाव जागृत रखने के लिए है, अत. वह नाना प्रकार का हो सकता है। जिन शासन का वेष सम्बन्धी यह अभिप्राय सदा से है और रहेगा, क्योंकि यहां अन्यलिंगसिद्ध और गृहस्थलिंगसिद्ध आदि सदा से होते आये है।

आशा है पाठक उल्लिखित स्पष्टीकरण से दोनों तीर्थों की एकरूपता को भली भांति समझ सकेंगे और किसी प्रकार के भ्रम मे न पड़ेंगे।

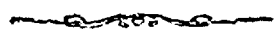

श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्रं ।

किं कर्पूरमयं सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मयं ।
किं लावण्यमयं महामणिमयं कारुण्यकेलिमयं ॥
विश्वानन्दमयं महोदयमयं शोभामयं चिन्मयं ।
शुक्लध्यानमयं वपुर्जिनपते भूयाद्भवालम्बनम् ॥ १ ॥

पातालं कलयन् धरां धवलयन्नाकाशमापूरयन् ।
दिक्चक्रं क्रमयन् सुरासुरनर श्रेणी च विस्मापयन् ॥
ब्रह्माण्ड सुखयन् जलानि जलधे फेनच्छलालोलयन् ॥
श्रीचिन्तामणिपार्श्व सभवयशोहंसश्चिरं राजते ॥ २ ॥

पुण्यानां विपणिस्तमोदिनमणिः कामेभकुम्भे श्रणि-
र्मोक्षे निस्सरणिः सुरेन्द्रकरिणी ज्योतिः प्रकाशारणिः ॥
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणिः कृपासारिणी ।
विश्वानन्दसुधाधीणर्भवभिदे श्रीपार्श्वचिन्तामणिः ॥ ३ ॥

श्रीचिन्तामणिपार्श्वविश्वजनतासञ्जीवनस्त्वं मया ।
दृष्टस्तात ततः श्रियः समभवन्नाशक्रमाचक्रिणः ॥
मुक्ति क्रीडति हस्तयोर्बहुविध सिद्ध मनोवांच्छित ।
दुर्दैवं दुरितं च दुर्दिनभय कष्टं प्रणष्ट मम ॥ ४ ॥

यस्य प्रौढतमप्रतापतपन. प्रोद्दामधामा जग-
ज्जज्ञाल. कलिकालकेलिदलनो मोहान्धविध्वसक
नित्योद्योतपद समस्तकमलाकेलिगृह राजते ।
स श्रीपार्श्वजिनो जनेहितकृते चिन्तामणि पातु माम् ॥ ५ ॥

विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोपि कल्पांकुरो ।
दारिद्राणि गजावली हरिशिशु काष्ठानि वह्नेः कणः ॥

पीयूषस्य लवोपि रोगनिवहं यद्वत्तथा ते विभो ।
मूर्त्तिः स्फूर्त्तिमती सती त्रिजगतीकष्टानि हर्त्तुं क्षमा ॥ ६ ॥

श्रीचिन्तामणिमन्त्रमौक्तियुतं ह्रीकारसाराश्रित ।
श्रीमर्हन्नमिऊणपाशकलितं त्रैलोक्यवश्यावहम् ॥

द्वेधाभूतविषापहं विषहरं श्रेय. प्रभावाश्रयं ।
सोल्लासं वसहाङ्कित जिनफुल्लिङ्ग-नन्दं देहिनाम् ॥ ७ ॥

ह्रीश्रींकारवरं नमोत्तरपरं ध्यायन्ति ये योगिनो-
हृत्पद्मे विनिवेश्य पार्श्वमधिपं चिन्तामणिसंज्ञकम् ॥

भाले वामभुजे च नाभिकरयोर्भूयो भुजे दक्षिणे ।
पश्चादष्टदलेषु ते शिवपद द्वित्रैर्भवैर्यान्त्यहो ॥ ८ ॥

नो रोगा नैव शोका न कलहकलना नारिमारिप्रचारा-
नैवाधिर्नासमाधिर्नच दरदुरिते दुष्टदारिद्रता नो ॥

नो शाकिन्यो ग्रहा नो न हरिकरिगणा व्यालवैतालजाला-
जायन्ते पार्श्वचिन्तामणिमतिवशतः प्राणिनां भक्तिभाजाम् ॥ ९ ॥

गीर्वाणद्रुमधेनुकुम्भमणयस्तस्याङ्गणे रङ्गिणो-
देवा दानवमानवा. सविनयं तस्मै हितध्यायिनः ॥

लक्ष्मीस्तस्य वशा वशेव गुणिनां ब्रह्माण्डमस्थायिनी ।
श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथमनिशं संस्तौति यो ध्यायते ॥१०॥

इति जिनपतिपार्श्व पार्श्वनाथस्य
प्रकटितदुरितौघः श्रीतिलकाभिधार्यः ।
त्रिभुवनजनया पूजानचिन्तामणिकः ।
त्रिपदतरणीर्जगोधिर्धीरतां धातु । ११ ॥

॥ इति श्रीचिन्तामणि स्तोत्रं सम्पूर्ण ॥